औषधीय एवं सगंधीय पौधों की खेती

(प्रमाण–पत्र पाठ्यक्रम)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

17, महर्षि दयानन्द मार्ग, (थार्नहिल रोड)

इलाहाबाद–211 001

खण्ड–1 का परिचय

औषधीय पौधों का महत्व, प्रमुख औषधीय पौधे (सफेद मूसली, अश्वगन्धा, सर्पगन्धा, एवं सतावर) की प्रजातियाँ, खेती करने का तरीका, व्यवसायिक महत्व, आय–व्यय की आर्थिकी

भारतवर्ष में जड़ी–बूटियों के कृषिकरण का इतिहास काफी पुराना है क्योंकि चिकित्सीय उपयोग हेतु वैद्य एवं हकीम अपनी गृहवाटिका में कुछ उपयोगी पौधे अवश्य लगाते थे, परन्तु इनके व्यापक एवं व्यवसायिक कृषिकरण की तरफ जनसामान्य में जितनी रुचि वर्तमान में जागृत हुई है, उतनी संभवतया पहले कभी नहीं हुई थी। इस वस्तुस्थिति के लिए कई कारण जिम्मेदार हैं, जिनमें प्रमुख हैं– देशीय तथा अंर्तराष्ट्रीय स्तर पर इनकी मांग में आश्चर्यजनक वृद्धि तथा प्रतिवर्ष 7 प्रतिशत की दर से इनका बढ़ता जा रहा अंतर्राष्ट्रीय बाजार; प्राकृतिक स्रोतों से इनकी उपलब्धता में कमी तथा लुप्त होती जा रही प्रजातियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि; परम्परागत फसलों की अपेक्षा जड़ी–बूटियों की खेती की अच्छी लाभप्रदता; जड़ी–बूटियों के कृषिकरण हेतु विधिवत मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण की उपलब्धता तथा जड़ी–बूटियों के कृषिकरण को बढ़ावा देने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय औषधीय पादप बोर्ड जैसी संस्था की स्थापना, इन समस्त कारकों के फलस्वरूप देशभर में औषधीय फसलों के प्रति अभूतपूर्व रुचि जागृत हुई है। इससे एक तरफ जहां परम्परागत कृषि को छोड़कर परम्परागत किसान औषधीय पौधों की खेती की ओर आकृष्ट होने लगे हैं वहीं उच्च शिक्षा प्राप्त ऐसे युवक भी जो अभी तक खेती–किसानी के कार्य को केवल ''कम पढ़े–लिखे लोगों का व्यवसाय'' मानते थे, औषधीय पौधों की खेती अपनाकर गौरवान्वित महसूस करने लगे हैं।

निःसन्देह औषधीय पौधों के व्यवसायिक कृषिकरण का क्षेत्र प्रत्येक दृष्टि से एक संभावना सम्पन्न क्षेत्र है परन्तु दुर्भाग्यवश कई कारणों के चलते इस क्षेत्र में पदार्पण करने वाले किसान उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। जितनी संभावनाएं इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। अधिकांशतः यह देखा जा रहा है कि विभिन्न प्रचार माध्यमों द्वारा इस क्षेत्र को अत्यधिक बढ़ा–चढ़ा कर ''वास्तविकता से दूर'' प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे इस प्रकार की जानकारी के आधार पर प्रारम्भ किए गए कार्य का क्या परिणाम होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। फलतः इस क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों को इस क्षेत्र के व्यवहारिक पहलुओं से अवगत करवाना आज की आवश्यकता है। औषधीय पौधों की खेती के इच्छुक ऐसे ही व्यक्तियों को इनकी उपयुक्तता, इनकी खेती की विधि, इनकी लाभप्रदता तथा इनके बाजार पर सम्पूर्ण जानकारी देने का प्रयास है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ने औषधीय एवं संगन्धीय पौधों की खेती पर 6 माह का प्रमाण–पत्र पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस पाठ्यक्रम की पाठ्य सामग्री को 3 खण्ड में बांटा गया है। प्रथम खण्ड में औषधीय पौधों के महत्व, प्रमुख औषधीय पौधे (सफेद मूसली, अश्वगन्धा, सर्पगन्धा एवं सतावर) की प्रजातियाँ; खेती करने का तरीका, व्यवसायिक महत्व एवं आय–व्यय की आर्थिकी के संदर्भ में 4 इकाई में बाँटकर दिया गया है। प्रथम इकाई में औषधीय पौधों का महत्व, भूमिका, उद्देश्य, औषधीय पौधों पर अनुसन्धान का महत्व, पादप जन्य औषधियों पर खोज कार्य, निर्यात की सम्भावनाएं, औषधीय कृषिकों हेतु आवश्यक जानकारियाँ, औषधीय खेती में जैविक पद्धति का महत्व इससे जुड़ी विभिन्न विधाएं, सोने की जड़ों वाली औषधीय फसल– सफेद मूसली, अश्वगन्धा, सतावर के संदर्भ में पूर्ण जानकारी जैसे, रासायनिक संरचना, औषधीय उपयोग, खेती की विधि, जलवायु, मिट्टी, उन्नतशील प्रजातियाँ, बिजाई की विधि, खेत की तैयारी, सिंचाई की व्यवस्था, प्रमुख रोग तथा बीमारियाँ, खेती से कुल प्राप्तियाँ, खेती पर होने वाले आय–व्यय का विवरण दिया गया है।

खण्ड–1

औषधीय पौधों का महत्व, प्रमुख औषधीय पौधे (सफेद मूसली, अश्वगन्धा, सर्पगन्धा, एवं सतावर) की प्रजातियाँ, खेती करने का तरीका, व्यवसायिक महत्व, आय–व्यय की आर्थिकी

इकाई –1

1.1 औषधीय पौधों का महत्व एवं आवश्यक जानकारी

1.1.1 भूमिका

1.1.2 उद्देश्य

1.1.3 औषधीय पौधों पर अनुसन्धान का महत्व

1.1.4 पादप जन्य औषधियों पर खोज कार्य

1.1.5 स्वतन्त्रता के बाद औषधीय पौधों की स्थिति

1.1.6 औषधीय पौधों के लिए जलवायु की अनुकूलता

1.1.7 भविष्य में निर्यात की संभावनाएं

1.1.9 एलोपैथिक पद्धति में प्रयोग किये जा रहे कुछ महत्वपूर्ण पौधे

1.1.10 सम्यक जानकारी की आवश्यकता

1.1.11 औषधीय कृषि को महज कृषि नहीं बल्कि व्यवसाय समझकर अपनाएं

1.1.12 शुरुआत छोटे स्तर से करें

1.1.13 विक्रय की व्यवस्था पहले से सुनिश्चित कर लें

1.1.14 किसी एक खरीददार के सहारे न बैठे रहें

1.1.15 बाय–बैक गारंटी देने वालों से सावधान रहें

1.1.16 बीज उपयुक्त स्रोत से ही प्राप्त करें

1.1.17 क्षेत्र की जलवायु तथा मिट्टी के अनुसार पौधों का चयन करें

1.1.18 प्राथमिकता प्राप्त पौधों के कृषिकरण पर ज्यादा ध्यान दें

1.1.19 पर्यावरण सुधार तथा मानव हित को सर्वोपरि मान कर चलें

1.1.20 राजस्व अभिलेखों में औषधीय खेती के संदर्भ में लिखित सूचना दें

खण्ड : 1

इकाई : 1

1.1. औषधीय पौधों का महत्व

1.1.1 भूमिका

भारत में औषधीय उपयोग का इतिहास बहुत पुराना है। ईसा पूर्व 4500 से 1600 की अवधि में भी पेड़ पौधों से औषधियाँ प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। औषधीय उपयोग का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है। इसके लिए आयुर्वेद नामक विद्या और तत्संबंधित साहित्य भी उपलब्ध है। ईसा से 4000 वर्ष पहले लिखे गये ग्रंथ–सुश्रुत संहिता और चरक संहिता में पौधों के चिकित्सीय गुणों का वर्णन मिलता है। प्राचीन हिन्दू लोग, ऋषि, मुनियों आदि को देशज दवाओं की पर्याप्त जानकारी थी। इसके बाद बौद्धकाल में औषधियों के ज्ञान क्षेत्र में काफी विकास हुआ और औषधि विशेषज्ञ के निर्देशन पर औषधीय पौधों की खेती आरम्भ की गयी। भारतीय भेषज विज्ञानियों ने भारतीय चिकित्सा प्रणाली की औषधियों को अधिक से अधिक विकसित करने, रोगों के उपचार में काम आने वाली वनस्पतियों तथा इनके उत्पादों और उप–उत्पादों को विकसित करने के लिए ग्रीक, रोम तथा बाद में अरब और फारस के देशों से संबंध स्थापित किये।

इस प्रकार भारतीय औषधीय पौधों तथा ''मेटेरियामेडिका'' का शताब्दी–दर–शताब्दी विकास होता रहा। इस खोज की प्रगति के फलस्वरूप लगभग 2000 प्रकार की औषधियों का उल्लेख मिलता है, जिसका भेषज साहित्य में वर्णन किया गया है और इनमें से लगभग 1800 प्रकार की औषधियाँ वनस्पतियों से ही मिलती हैं। इसके उपरांत ''वनस्पति मेटेरियामेडिका'' का निर्माण किया गया। हालाकि इसको पूरा करने में सैकड़ों वर्ष लग गये। भारत में पायी जाने वाली विभिन्न चिकित्सा प्रणालियों के चिकित्सकों ने क्षेत्रीय पौधों का अध्ययन किया और पता लगाने की निरंतर चेष्टा करते रहे हैं। इस बात को सुनिश्चित किया जाता रहा है, कि प्रकृति में विद्यमान वनस्पतियों में कौन–कौन से चिकित्सकीय गुण हैं और इनका किन–किन रोगों में और किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

1.1.2 उद्देश्य

लगातार खोज के बाद पौधों के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त होने के परिणामस्वरूप दवाओं के रूप में पौधों के प्रयोग का व्यापक प्रचार–प्रसार होता गया। परंतु भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद इस शताब्दी के आरंभ तक भारतीय औषधीय पौधों पर बहुत ही कम अन्वेषण कार्य किया गया। इस अछूते ज्ञान पर विस्तृत वैज्ञानिक खोज की अत्यधिक आवश्यकता है, जिससे ज्ञात औषधीय पौधों के उपयोग के संबंध में विस्तारपूर्वक काम किया जा सके, साथ ही अधिकाधिक लोग इन पौधों का उपयोग औषधीय रूप में कर सकें। देशज और घरेलू औषधि की तरह देश के विभिन्न हिस्सों के लोग सरलता से इनका उपयोग कर सकें एवं वर्तमान चिकित्सा पद्धति का इस्तेमाल करने वाले चिकित्सक भी इसका प्रयोग कर सकें।

1.1.3 औषधीय पौधों पर अनुसंधान का महत्व

प्रायः पूछा जाता है कि देशी दवाओं पर अनुसंधान और व्यापक खोजबीन की क्या आवश्यकता है। इधर रसायन विज्ञान और जीव रसायन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। खासतौर पर रसायनों से तैयार की गयी दवाओं के उत्पादन की दिशा में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। रसायन वैज्ञानिकों ने आर्सेनिकल्स मलेरियारोधी यौगिकों, प्रोटोजोआ जनित बीमारियों के इलाज के लिए और जीवाणु जनित रोगों के लिए सल्फोनामाइड्स का आविष्कार किया है। अनेक प्रति जैविक (एंटी बायोटिक) दवाओं ने जीवाणुजनित रिकेट्स की तरह की बीमारियां यहां तक कि कुछ विषाणुजनित रोगों पर भी काबू पाया जा सका है और उसका इलाज भी संभव हो गया है। इन सारी बातों के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है कि क्या अब भी देशी दवाओं पर अनुसंधान की कोई आवश्यकता है। इसको तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। भूमध्यसागरीय तथा अरब देशों की चिकित्सा में स्थानीय पौधों– **श्रम्मी विसनागा** के सूखे बीजों का काढ़ा गुर्दे की बीमारियों में दिया जाता है। काहिरा में जी.बी. अर्नेप द्वारा की गयी खोजों से पता चला है कि खेलिन नामक क्रियाशील घटक वाहिका विस्तारक (वासोडिलेटर) के रूप में सूक्ष्म धमनियों पर प्रभावशाली पाया जाता है। बाद

में अनेक चिकित्सीय परीक्षणों से पता चला है कि खेलिन 'एनजाइना' पर भी कारगर हो सकता है। बहुत पुराने समय से ही भारत तथा मलाया में सर्पगंधा **(राउल्फिया सर्पेंटाइना)** नामक पौधों की जड़ों का इस्तेमाल कीड़ों तथा सर्पदंश आदि में विषरोधी के रूप में किया जाता रहा है। यही नहीं, इसका उपयोग हृदयविकार तथा संवेदनाहारी के रूप में किया जाता है। इसे रक्त चाप में भी उपयोगी पाया गया है।

रसायनों द्वारा चिकित्सा के आधुनिक काल में भी क्षयरोग जैसी बीमारियों में देशी औषधीय पौधों से प्राप्त दवाओं का अच्छा असर देखा गया है। जापानी वैज्ञानिकों ने **स्टेफानिया सिफेरेथा** नामक एक लता से तथा विटेरिया की तरह के पौधों जैसे स्टे. **एसकापी** से सिफैरेथिन नामक मादक द्रव्य निकाला है, जो क्षय रोग के लिए जापान में प्रख्यात है। चीन के खोज कर्मियों ने स्थानीय अनेकानेक पौधों में क्षय रोग रोधी गुण खोज निकाले और **कोप्टिस चाइनेंसिस** की जड़ों से क्षयरोग रोधक औषधीय गुणों से भरपूर कुछ तत्व पाये। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अनेक देशी जड़ी–बूटियों से क्षय रोग जैसी बीमारियों का इलाज करना संभव है। यही कारण है कि जड़ी बूटी संपदा से समृद्ध देश भारत, पाकिस्तान और चीन आदि ने विश्व स्वास्थ्य की दिशा में अनिवर्चनीय भूमिका निभायी है। रूटिन नाम सुप्रसिद्ध ग्लाइकोसाइड मूल रूप से **रूटा ग्रेवियोलेंस** नामक पौधे से प्राप्त होता था, पर अब 40 विभिन्न जातियों के पोधों से प्राप्त किया जाने लगा है। इसका महत्वपूर्ण उपयोग अब परमाणु विकिरण कुप्रभावों के उपचार में किया जाता है।

यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि संशिलष्ट रसायनों को तैयार करने के लिए प्रयोगशाला स्तर पर काफी उच्च ताप की उष्मा तथा दाब की आवश्यकता होती है, जब कि पौधे प्रकृति के सामान्य ताप पर इन्हें तैयार कर लेते हैं। जिस कुनैन को प्रयोगशाला स्तर पर वर्षों के प्रयास के बाद रसायन वैज्ञानिक तैयार करने में सफल हो सकें, उसे सिनकोना के पौधे प्रतिदिन ही तैयार करते हैं। अनेक प्रति जैविक पदार्थ (एंटीबायोटिक्स) पौधों में पाये जाते हैं। जिनका सही रूप से इस्तेमाल किया जाना अभी भी शेष है। मानवता के कल्याण के लिए पौधों में छिपे अलौकिक गुणों का

पूरा–पूरा उपयोग किया जाना आधुनिक विज्ञान के लिए चुनौती हैं इस अमूल्य विद्या को पौधों से ही प्राप्त कर काफी संकटों से उबारा जा सकता है। इस उद्देश्य से देशी औषधीय अध्ययन व अनुसंधान की नितांत आवश्यकता है।

1.1.4 पादपजन्य औषधियों पर खोज कार्य

निःसंदेह अब तक ज्ञात पौधों से प्राप्त दवाओं पर फिर से खोज कार्य किया जाना एक महत्वपूर्ण पहलू है, हालांकि इनमें से अनेक दवाएं पिछले अनेक वर्षों से मालूम रही हैं, परंतु अभी इनकी अद्भुत शक्तियों पर भरपूर ज्ञान नहीं है। **पोडोफायलम** तथा इसका गोंद श्लेष्मा झिल्ली और त्वचा पर उद्दीपन पैदा करता है। यही कारण है कि **पोडोफायलम** के गोंद को नरम मस्से इत्यादि को समाप्त करने में उपयोगी पाया गया है। किसी खनिज तेल में रेजिन को मिलाकर उसके 25 प्र॰श॰ तेल का लेप करने से मस्से ठीक हो जाते हैं। भारतीय पोडोफायलम में अमेरिकी पोडोफायलम की तुलना में अधिक रेजिन तथा पोडोफायलोटॉक्सिन पाया जाता है।

अभी कुछ वर्ष पहले डिजिटिलिस नामक पौधे से प्राप्त हृदयटानिक पहले से मौजूद हृदयटानिकों से भिन्न है। इसकी पत्तियों से नया ग्लाइकोसाइड डिजिकारिन खोज निकाला गया है। पहले इसे विषैला समझा जाता था, किन्तु अब यह रामबाण औषधि समझी जाती है। यह **डिजिटिलिस परप्यूरिया** व **डि० लेनाटा** से प्राप्त होती है। इसी प्रकार क्लोरोफिल से निर्मित अनेक दवायें रासायनिक दवाओं से काफी उपयोगी पायी गयी हैं।

इसके अतिरिक्त अकेली दवा के रासायनिक संगठन का अध्ययन करने के लिए काफी समय व परिश्रम की आवश्यकता है। इसकी जाँचकर, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस काम में कुशल रसायन वैज्ञानिक भी महीनों, यहां तक कि वर्षों का समय लगा सकते हैं। किसी भी दवा के रासायनिक घटकों, क्रियाशील तत्वों को खोज निकालने तथा दवा के रूप में उसको परीक्षण की श्रृंखलाओं से गुजारने में काफी समय लग जाता है। इस ओर काम किये जाने के लिए काफी बड़ा क्षेत्र अभी भी अछूता पड़ा है। किसी अकेले व्यक्ति या अकेली संस्था के वश का यह काम नहीं है, कि वह सारी दवाओं पर अध्ययन कर सके। अनेक लगनशील तथा

उत्साही कार्यकर्ताओं के संयुक्त प्रयासों के बाद ही किसी पौधे के विभिन्न रासायनिक तत्वों को उजागर किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय या मेडिकल कॉलेज में औषधि विद्या के गहरे अध्ययन के लिए केन्द्र स्थापित करके अनुसंधान कार्य किये जायें।

इन दवाओं तथा उनमें निहित सक्रिय तत्वों का सावधानी के साथ रसायनिक, औषधि वैज्ञानिक तथा चिकित्सीय अध्ययनों से गुजरना होता है। अतएव इन सभी पहलुओं को अन्वेषण के साथ–साथ चलाया जाना आवश्यक है। ऐसा परीक्षण कार्य आधुनिक यंत्रों व उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशालाओं में किया जा सकता है। इसके लिए 'कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसन' की स्थापना 1921 में हुई जहां देशी दवाओं पर अध्ययन और खोज कार्य किया जा रहा है। यहां के रसायन वैज्ञानिकों की एक कुशल समूह दवाओं में से क्रियाशील तत्वों, उनके प्रभावों और चिकित्सीय परीक्षणों को संपादित करने में कार्यरत् है।

1.1.5 स्वतंत्रता के बाद औषधीय पौधों की स्थिति

स्वतंत्रता के बाद 1947 से भारत सरकार ने इस दिशा में अधिक रुचि लेना आरंभ कर दिया, जिससे औषधियों पर अनुसंधान और नयी औषधियों पर आधारित उद्योग धंधे बड़ी संख्या में स्थापित किये जाने लगे। औषधियों पर अनुसंधान और नयी औषधियों की खोज के लिए 1951 में लखनऊ में 'केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान' (सी॰डी॰आर॰आई॰) की स्थापना की गयी। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से 1954 में पिंपरी में हिन्दुस्तान एंटीबायोटिक्स लि॰ की स्थापना की गयी, जो सार्वजनिक क्षेत्र में चलने वाली औद्योगिक संस्था है। संश्लेषित दवाओं के निर्माण को बढ़ावा देने के लिए हैदराबाद में इंडियन ड्रग्स एंड फार्मास्यूटिकल्स के नये संयंत्र की स्थापना 1961 में की गयी और इसी प्रकार ऋषिकेश में भी एंटीबायोटिक संयंत्र स्थापित किया गया। इस प्रकार देशी दवाओं पर अध्ययन का कार्य तेजी से प्रारम्भ हुआ और इसको अब काफी प्रोत्साहन भी मिल रहा है। इसके परिणाम स्वरूप काफी प्रगति हुई है। अनेक अर्द्धसरकारी संस्थाओं जैसे भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की प्रयोगशालाओं में और इनके द्वारा उदारतापूर्वक अनुदान से निजी क्षेत्र की संस्थाओं में औषधीय पौधों पर खोज कार्य हो रहा है। राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में लखनऊ स्थित राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, केन्द्रीय औषधि एवं संगन्ध पौध संस्थान, लखनऊ, क्षेत्रीय अनुसंधानशाला, जम्मू तथा केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जो इस दिशा में काफी रुचिपूर्वक सरकारी संरक्षण के अंतर्गत अनेक देशी दवाओं पर खोज कर रहे हैं। इस तरह स्वतंत्रता के बाद फिर एक बार देशी दवाओं पर अध्ययन को सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ है। सरकार इसके साथ ही निजी उद्यमों को भी काफी बढ़ावा देने लगी है। इसके साथ ही कुछ विदेशी कंपनियों ने भी साझे तथा प्रौद्योगिकी के विनिमय कार्यक्रम के अंतर्गत औषधि उद्योगों की स्थापना की है। इस प्रकार भारत ने रसायन इकाइयों को स्थापित किया है और प्रतिरक्षात्मक चिकित्सा, प्रतिजैविक हारमोन, विटामिन, संश्लिष्ट औषधियों और पौधों से तैयार की जाने वाली दवायें भी तैयार होने लगी हैं। भारत से वनस्पतिजन्य कच्चे माल का निर्यात 1976–77 से किया जा रहा है जिसे सारणी 1 में प्रदर्शित किया गया है–

सारणी 1 : वनस्पतिजन्य दवाओं का निर्यात (रु. में)

पौधे का नाम	वर्ष 1976–77	वर्ष 1977–78	वर्ष 1978–79
बैलाडोना पत्तियां और जड़ें	–	–	–
सिनकोना की छाल	–	–	–
गैलेंगा के प्रकंद	76,400	47,400	2,20,500
ग्लिसीराइजा लैब्रा (सूखे प्रकंद)	–	1,000	24,000
कुथ की जड़	6,53,000	2,08,100	9,33,300
नक्सवोमिका (पके हुए सूखे फल)	13,000	4,46,900	1,87,600
साइलियम की भूसी (ईसबगोल)	1,7716400	1684,58800	80200000
साइलियम बीज (ईसबगोल)	1,58,79,500	86,90,200	17,75,600
सर्पगंधा (जड़)	–	79,900	–
सनाय की पत्तियां व कलियां	1,28,46,300	1,17,33,000	2,00,77,500
टुकमारिया	2,79,600	5,11,500	54,300
डोडोबरी जड़ें	2,96,700	1,53,900	3,42,000

आयुर्वेदिक पौधे	21,31,800	39,14,800	39,98,600
अन्य वनस्पतियाँ (कच्ची)	8,02,98,900	4,90,24,000	4,24,77,700
सदाबहार की जड़ (कैथरेंथस रोजियस)	–	27,79,500	–
चिरायता	15,19,000	3,43,000	45,000
इपीकॉक (सूखी जड़ व प्रकंद)	1,000	–	61,900
सरसापारिला	–	96,400	42,100
कच्ची अफीम	17,27,09,900	21,37,13,800	15,37,81,700

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदिक और यूनानी दवाओं का भी निर्यात किया गया है, जिसे सारणी 2 में प्रदर्शित किया गया है।

सारणी 2 : आयुर्वेद जड़ी–बूटियों, आयुर्वेद व यूनानी दवाओं का निर्यात

वर्ष	आयुर्वेदिक एवं यूनानी औषधियां मूल्य (रु.)	शुष्क जड़ी–बूटियां मूल्य (रु.)
1968–69	12,42,202	7,85,441
1969–70	17,46,494	4,05,733
1970–71	19,20,564	4,52,077
1971–72	11,93,101	6,41,04,395
1972–73	19,52,458	4,96,08,465
1973–74	15,26,341	8,69,90,707
1974–75	43,18,308	15,66,74,706
1975–76	48,49,997	12,39,00,629
1976–77	98,00,669	28,37,79,321
1977–78	4,90,24,004	14,78,885
1978–79	4,24,77,665	19,49,31,065
1979–80	3,55,478	20,36,38,530
1980–81	2,01,44,865	57,43,285
1981–82	2,78,40,037	27,61,15,081

स्वतंत्रता के बाद भारत ने अनेक एल्केलायडों का निर्यात और कुछ का आयात आरंभ किया है।

सारणी 3 : भारत में औषधियों का आयात–निर्यात

वर्ष	आयात मूल्य (रु.)	मात्रा कि.ग्रा.	निर्यात मूल्य (रु.)	मात्रा कि.ग्रा.
1968–69	22,27,721	57,335	1,13,97,423	58,649
1969–70	29,67,571,	43,238	1,24,25,646	60,800
1970–71	66,73,252	78,244	1,21,03,907	49,673
1971–72	54,55,083	82,635	1,18,43,713	60,986
1972–73	42,90,550	98,915	1,22,30,924	86,593
1973–74	35,76,077	48,383	1,85,79,961	1,46,619
1974–75	85,36,692	1,46,361	3,49,14,308	2,13,725
1975–76	47,17,402	76,744	25,14,11,345	57,005
1976–77	75,40,885	1,05,040	2,08,49,295	1,10,717
1977–78	1,48,88,316	1,54,183	18,36,202	7,873
1978–79	1,34,86,129	11,31,224	47,16,038	21,065
1979–80	95,90,703	1,85,888	3,19,54,152	5,94,760
1980–81	1,35,08,030	1,41,329	3,04,21,594	3,27,943
1981–82	1,19,96,282	1,20,400	3,36,53,759	4,09,436

1.1.6 औषधीय पौधों के लिए जलवायु की अनुकूलता

भारत की जलवायु विविध औषधीय पौधों की वृद्धि और कृषि के लिए अनुकूल है, फिर भी औषधीय पौधों की व्यापक खेती तथा इनसे प्राप्त औषधीय उत्पादों की दिशा में भी बहुत थोड़े ही प्रयास किये गये हैं। अभी तक कई दवाओं का उत्पादन जंगल में प्राकृतिक रूप से उगने वाले औषधीय पौधों पर निर्भर है। औषधीय पौधों का वनों से संग्रह के कुछ निम्नलिखित अवगुण हैं :

1. प्राकृतिक उद्‌गम स्थल से पौधों को लाने में कठिनाइयां होती हैं, जबकि वे दूरस्थ स्थानों पर मिलती हैं।
2. बिखरे हुए वितरण स्थल
3. प्रतिवर्ष सघन संग्रह के फलस्वरूप औषधीय पौधों के लुप्त हो जाने का

भय, जैसे **बैलाडोना और राउल्फिया।**

4. संग्राहकों की अज्ञानता और पहचान क्षमता की कमी के कारण मिलावट की संभावना अधिक होती है।

यह बात निर्विवाद रूप से सही है कि भारत में औषधीय पौधों का एक विशाल भंडार है। ब्रिटिश और अन्य फार्माकोपिया में उल्लिखित लगभग तीन चौथाई औषधीय पौधे प्राकृतिक रूप में यहां उगते हैं। केवल औषधीय दृष्टि से ही नहीं अपितु अनेक सुगंधिकारक पौधे तथा मसाले भी भारत में बड़ी मात्रा में उत्पन्न होते हैं। भारत में विभिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है, जहां प्राकृतिक रूप में न उगने वाली औषधीय वनस्पतियों को भी यहां की मिट्‌टी और जलवायु में सरलता से उगाया जा सकता है। यदि इनकी खेती एक बार विकसित हो जाय और उपलब्धि निरंतर रहे तो इनकी खेती व व्यापार के लिए बहुत से नये औषधि संस्थान स्थापित किये जा सकते हैं।

वन विभाग के अंतर्गत भी आर्थिक महत्व के पौधों के रोपण और संरक्षण की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। इस कार्य के लिए अनुसंधान कार्य भी किये जाने चाहिए वन विभागों को चाहिए कि व्यवसायिक स्तर पर कुछ चुने हुए औषधीय पौधों को उगाये जाने के काम को बढ़ावा दें। इससे आय तो बढ़ेगी ही, साथ ही ग्रामीण अंचलों में रोजगार के बेहतर साधन जुटाने में मदद मिलेगी। जहां संभव हो राज्य वन विभाग इस काम के लिए सहकारी समितियों की स्थापना कर सकते हैं,, जिसमें सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप देश के दवाखानों के लिए अधिक कच्चा माल उत्पन्न किया जा सकता है, साथ ही निर्यात को भी बढ़ावा मिल सकेगा।

यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि भारत में औषधीय पौधों की खेती की ओर अब विशेष ध्यान दिया जा रहा है। अनेक औषधीय पौधों की कृषि आरंभ की गयी है। कश्मीर में बैलाडोना, अरगट, पाइरेथ्रम आदि कुछ क्षेत्रों में अच्छी उपज दे रहे हैं। तमिलनाडु में सिनकोना, जिरेनियम, पिपरमिन्ट तथा डयस्कोरिया की खेती को बड़े पैमाने पर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली ने औषधीय पौधों की प्रवर्धन योजना के माध्यम से कई राज्यों में खोज कार्य व औषधीय पौधों की

खेती को आरम्भ करवाया है। पूर्वोत्तर तथा दक्षिणी भारत में देशी पौधों की खेती का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ बाहरी देशों से आए हुए पौधे जैसे **डातूरा इनक्सिया** को मेक्सिको और **ड्यूबोयशिया** की जातियों को आस्ट्रेलिया से लाया गया। यह प्रयास कृषि उद्यानविदों के सतत परिश्रम के फलस्वरूप इस देश में संभव हो सकता है। इससे देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी।

पौधों की किस्म सुधारने का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे उत्तमकोटि के औषधीय उपयोग के पौधों को उगाया जा सकता है। कलम लगाना, संकरण, चयन, किरणीयन द्वारा उत्परिवर्तन कराना, उत्परिवर्तनकारक रसायनों तथा कोल्चिसीन जैसे उत्परिवर्तन कारकों को इस्तेमाल करके नयी पौध प्राप्त की जा सकती है। औषधीय पौधों पर अभी यह कार्य शैशवावस्था में ही है। सुधरी किस्मों के द्वारा औषधि उद्योग में निःसंदेह काफी लाभदायक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

भारत में डायस्कोरिया **डेल्टायडीया** के कंद में डायोस्जेनिन काफी मात्रा में पाया जाता है, जिससे कार्टीकोस्टेरायड हारमोन बनाये जाते हैं, लेकिन इस पौधे की उपलब्धि बहुत कम है। डायस्कोरिया की दूसरी जाति **डायस्कोरिया प्राजेरी** है जिसे सरलतापूर्वक उगाया जा सकता है और इसमें काफी मात्रा में डायोस्जेनिन पाया जाताहै। अतः इस पौधे को उगाना चाहिए। कुछ सोलनेसी कुल के पौधे जैसे– **सोलेनम एवीक्यूलेयर,** स्टेरायडल एल्केलायडों के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, जो कार्टी कोस्टेरायडों के निर्माण में काम आता है। सीसल नामक पौधों में हेकोजेनिन पाया जाता है, जिससे कार्टीस्टेरायड बनाये जा सकते हैं। अतः इन पौधों की खेती के संबंध में अनुसंधान किया जाना चाहिए।

फैगोपाइरम एस्कुलेंटम नामक पौधा रुटीन का स्रोत है, लेकिन हमारे देश में इस पौधे की प्राप्ति नगण्य है। हेस्पेरेडीन संतरों के छिलकों से प्राप्त किया जाता है, इसकी क्रियायें रुटिन से समानता रखती हैं। अतः रूटिन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संतरे के छिलकों का उपयोग किया जाता है, जिसकी बड़ी मात्रा का हमारे देश की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए आयात रोका जा सकता है। इस प्रकार रूटिन की आवश्यकता की

पूर्ति करने के लिए इसका आयात रोका जा सकता है। भारत प्रतिवर्ष 60.70 लाख रुपये के पौधों को विदेशों से आयात करता है (सारणी–4)। लगभग प्रतिवर्ष चार लाख रुपये का रवेदार विटामिन ''ई'' विदेशों से आयात किया जाता है। हम जानते हैं कि धान तथा गेहूं के अंकुल के तेल में विटामिन ''ई'' पाया जाता है। अतः इन सस्ते स्रोतों से विटामिन ''ई'' प्राप्त करके इसके आयात को रोका जा सकता है। भारत में विटामिन ''ई'' का संश्लेषण भी किया जाता है।

सारणी 4 : भारत में प्रतिवर्ष आयातित औषधीय पौधे

क्रम सं.	उत्पाद	स्रोत	मूल्य (लाख रु. में)
1.	लिकोरिस की जड़ें	ग्लिसराइजा ग्लैब्रा	14.00
2.	पाइरेथ्रेम	क्राइसेंथेमम सीनेरेसीफोलियम	3.50
3.	डिजिटिलस पत्तियां	डिजिटिलिस लेनाटा	2.60
4.	अरगट एल्केलायड	क्लेवीसेप्स परप्यूरिया	4.50
5.	इफेड्रीन	इफेड्रा जिरारडियाना	5.5
6.	कोकावीन (थियोफाइलीन)	थियोब्रोमा कोका	21.4
7.	गैलेंगा राइजोमस	एल्पिनिया गैलेंगा	2.30
8.	कोकीन तथा कोका एल्केलायड	इरीथ्रोजाइलोन	1.49
9.	एट्रोपीन लवण	डटूरा स्ट्रामोनियम	0.22
	बैलाडोना की पत्तियां तथा जड़ें	एट्रोपा बैलाडोना	0.44
10.	रीसरपाइन तथा सभी एल्केलाययड	राउल्फिया सपेंटाइना	....
11.	पोडोफाइलम रेजिन	पोडोफाइलस हेक्सानड्रम	....
12.	डियोस्जेनिन	डायोस्कोरिया डेल्टायडिया	....
13.	रूटिन (विटामिन बी)	फैगोपाइरम एम्यूलेंटम	0.39
14.	पापावेरिन	पापावर सोमनीफेरम	0.67
15.	टैनिक अम्ल (गैलोटानिक अम्ल)	गालस्टपा	0.85

1.1.7 भविष्य में निर्यात की संभावनाएं

भारत की जलवायु तथा भौगोलिक स्थिति लगभग बहुत से औषधीय पौधों के अनुकूल है। अतः हर प्रकार के औषधीय पौधों की कृषि और औषधि उत्पादकों का उत्पादन तथा निर्यात सफलतापूर्वक कर सकते हैं। इसके बावजूद भी हमारे देश में **ग्लिसेराइजा** (मुलैठी), **क्यूबेव, पाइरेथ्रम,** अर्गट, इफीड्रीन, थियोफाइलीन तथा अन्य बहुत से हारमोन बाहर से मंगाये जाते हैं। आयातित

पौधों की सूची सारणी–4 में अफीम और कोडीन जैसे पदार्थों का भारत सबसे बड़ा निर्यातक देश है। इसी प्रकार कुथ की जड़े, सदाबहार **(कैथेरेंथस)** भी काफी मात्रा में बाहर भेजा जाता है (सारणी–4)

औषधीय पौधों का आयात वर्ष 2001 में एक बिलियन यू.एस. डॉलर था भारत चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ा निर्यातक देश है। अमेरिका भारत की निर्यात औषधियों का 50 प्रतिशत का खरीददार है। वर्ष 2001 में घरेलू बाजार में औषधीय पौधों की मांग 384 करोड़ रु. की थी और खपत 1,28,000 टन थी और इसका उत्पादन 111,000 हेक्टेयर में हो रहा है। 2001–02 में भारतीय औषधियों के कारोबार का आंकलन 847 करोड़ रुपयों का था। 2006–7 तक 1750 करोड़ रुपये तथा 2009–10 तक 2500 करोड़ रुपये का कारोबार अपेक्षित है।

इक्कीसवीं सदी में पूरे विश्व में यह महसूस किया जा रहा है कि प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति आधुनिक चिकित्सा पद्धति से कहीं श्रेयस्कर है। जहां एक ओर प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति असरकारक, किफायती व बिना किसी कुप्रभाव के हैं, वहीं दूसरी ओर आधुनिक चिकित्सा पद्धति इसके विपरीत है। भारतीय चिकित्सा पद्धति जिसका उल्लेख विभिन्न धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है लगभग 5000 वर्ष पुरानी है जिसमें आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी एवं होम्योपैथी पद्धतियां प्रमुख हैं। इन सभी पद्धतियों के औषधियों के विनिर्माण में लगभग 80–90 प्रतिशत जड़ी–बूटियों का इस्तेमाल होता है, जो मुख्यतः वनों से आती हैं। अत्यधिक इस्तेमाल के कारण प्राकृतिक रूप में औषधीय पादपों का बचना मुश्किल हो गया है और उनकी संख्या में भी कमी आ गयी है। वर्तमान व भविष्य में इनकी आवश्यकता को पूरा करने के लिए औषधीय पादपों की खेती को बढ़ावा देना आवश्यक है। कृषिकरण में नई फसलें होने के कारण अधिकांश औषधीय पौधों की कृषि तकनीकें उपलब्ध नहीं हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अध्ययन के अनुसार लगभग 80 प्रतिशत लोग मुख्य रूप से पारंपरिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति पर ही निर्भर हैं, जिसमें औषधीय पौधों का उपयोग किया जाता है। इसलिए विकासशील देशों के साथ–साथ विकसित देशों में भी औषधीय पौधों से संबंधित उत्पादों

की मांग निरंतर बढ़ती जा रही है। जड़ी–बूटी उत्पादों में मुख्यतः औषधि निर्माण, खाद्य पदार्थ, सौंदर्य प्रसाधन आदि शामिल हैं। इन सभी उत्पादों का अंतरराष्ट्रीय बाजार लगभग 3 लाख करोड़ रुपये (लगभग 62 बिलियन डॉलर) का अनुमानित है, जो 7–8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से निरन्तर बढ़ता जा रहा है। किसानों ने कृषि विविधता के महत्व को समझते हुए पारंपरिक फसलों से हटकर नई फसलों की तलाश प्रारंभ कर दी है। नई व्यवसायिक फसलों में औषधीय एवं सुगंधीय फसलों का नाम सर्वोपरि है। सौभाग्य से भारतीय जलवायु अधिकांश औषधीय एवं संगंधीय फसलों को उगाने के लिए उपयुक्त है। अतः भारत के समस्त क्षेत्रों के किसान किसी न किसी प्रकार की औषधीय फसलें उगा सकते हैं।

भारतवर्ष में जड़ी–बूटियों के कृषिकरण का इतिहास यूं तो काफी पुराना है क्योंकि चिकित्सीय उपयोग हेतु वैद्य एवं हकीम अपनी गृहवाटिका में कुछ उपयोगी पौधे अवश्य लगाते थे, परन्तु इनके व्यापक एवं व्यवसायिक कृषिकरण की तरफ जनसामान्य में जितनी रुचि वर्तमान में जागृत हुई है, उतनी संभवतया पहले कभी नहीं हुई थी इस वस्तुस्थिति के लिए कई कारण जिम्मेदार हैं, जिनमें प्रमुख हैं– देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इनकी मांग में आश्चर्यजनक वृद्धि तथा प्रतिवर्ष 7 प्रतिशत की दर से इनका बढ़ता जा रहा अंतर्राष्ट्रीय बाजार; प्राकृतिक स्रोतों से इनकी उपलब्धता में कमी तथा लुप्त होती जा रही प्रजातियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि; परम्परागत फसलों की अपेक्षा जड़ी–बूटियों की खेती की अच्छी लाभप्रदता; जड़ी–बूटियों के कृषिकरण हेतु विधिवत मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण की उपलब्धता तथा जड़ी–बूटियों के कृषिकरण को बढ़ावा देने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय औषधीय पादप बोर्ड जैसी संस्था की स्थापना इन समस्त कारकों के फलस्वरूप देशभर में औषधीय फसलों के प्रति अभूतपूर्व रुचि जागृत हुई है। इससे एक तरफ जहां परम्परागत कृषि को छोड़कर परम्परागत किसान औषधीय पौधों की खेती की ओर आकृष्ट होने लगे हैं वहीं उच्च शिक्षा प्राप्त ऐसे युवक भी जो अभी तक खेती–किसानी के कार्य को केवल ''कम पढ़े–लिखे लोगों का व्यवसाय'' मानते थे, औषधीय पौधों की खेती अपनाकर गौरवान्वित महसूस करने लगे हैं।

1.1.9 एलोपैथिक पद्धति में प्रयोग किये जा रहे कुछ महत्वपूर्ण पौधे :

औषधीय पौधों से निकाले गये शुद्ध यौगिक किसी भी एलोपैथिक दवा की तरह ही असरकारी होते हैं और यही कारण है कि आजकल न केवल ऐलोपैथी में बल्कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों में भी इन यौगिक क्रियाओं का प्रयोग किया जा रहा है।

औषधीय पौधों के असर की वैज्ञानिक पुष्टि एक ऐसी आवश्यकता है जिस पर पादप आधारित समस्त चिकित्सा पद्धतियों का भविष्य टिका हुआ है। इन चिकित्सा पद्धतियों, विशेष रूप से आयुर्वेदिक पद्धति के 5000 वर्ष के जीवन काल में अनेकों भ्रान्तियों तथा अतिश्योक्तियों का मिश्रण हुआ है। जिनके प्रमुख कारण हैं : आदि काल के आयुर्वेदिक ज्ञान का स्थानीय वैद्यों तथा लोगों द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को न बताना। फलस्रूप उनकी मृत्यु के साथ ही उस ज्ञान का लुप्त हो जाना, किसी खास पौधों के प्रयोग से वांछित लाभ प्राप्त होने पर व्यक्ति विशेष द्वारा उसके असर को बढ़–चढ़ा कर लोगों में पेश करना आदि। भारतीय पारंपरिक ज्ञान के अनुसार एक–एक पौधे को अनेकानेक बीमारियों के उपचार के लिए संस्तुत किया गया है। अनेक बीमारियों में पौधों से प्राप्त यौगिकों के असर तथा असर करने की क्रियाविधि पर किये गये अनुसंधानों से औषधीय पौधों के कुछ बीमारियों में असरकारी होने के ठोस प्रमाण मिले हैं। उदाहरण के लिए कैंसर के इलाज में सदा बहार (कैथेरेंथस रोजियस जी डान) पौधे का प्रयोग। यह सर्वविदित है कि कैंसर कुछ विशिष्ट कोशिकायों की अनियमित तथा लगातार वृद्धि से उत्पन्न संरचनायें होती हैं। जिनके बढ़ने की क्षमता उनके आसपास की कोशिकाओं के बढ़ने की क्षमता से अधिक होती है। सदाबहार से प्राप्त कैंसर प्रतिरोधी यौगिक (सेल्कलायड) बिनब्लास्टीन तथा विक्रिस्टीन क्रमशः लिम्फोमा ट्यूमर तथा तीव्र ल्यूकीमिया में असरकारी होते हैं। ये यौगिक कैंसर कोशिकाओं की वृद्धि के लिए उत्तरदायी माइक्रोट्यूष्पूल निर्माण प्रक्रिया को रोकते हैं जिससे कोशिका विभाजन नहीं हो पाती और फलस्वरूप कोशिका वृद्धि कम होने लगती है। सोमलता (एफैट्रा जिरारडियाना) से प्राप्त यौगिक एफेड्रीन अस्थमा के उपचार के लिए प्रयोग किया जाता है।

यह केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को उदीप्त करता है तथा मूत्र बनाने की प्रक्रिया को बढ़ाता है। यह फेफड़ों की 29 सनिकाओं को फैलाता है जिससे बीटा रिसेप्टर उदीप्त होते हैं और सांस की कठिनाई कम होती है।

एलोपैथिक पद्धति में प्रयोग किए जा रहे कुछ महत्वपूर्ण पौधे–

क्र.सं.	पौधे का साधारण नाम	पौधे का वैज्ञानिक नाम	पौधे से प्राप्त यौगिक	यौगिक के चिकित्सीय प्रयोग
1.	सर्पगन्धा (जड़)	राउवोल्फिया सर्पेन्टाइना	अजमेलिन, रैसरपीन, अजमेलिसिन	प्रति उच्च रक्तदाब, प्रशांतक
2.	हेनवेन (पौधा)	आर्टीमीसिया एनुआ	आर्टीमीसिनिन	मलेरियारोधी
3.	सिनकोना (छाल)	सिनकोना आफिसिनेलिस	क्वीनीन, क्वीनीडीन	हृदय स्पंद अनुक्रम सामंजक
4.	वैलाडोना (पौधा	ऐट्रोपा वैलाडोना	एट्रोपीन	पुतली प्रसारक, कोलीन धर्मोतेजक
5.	खुरासानी अजवायन (बीज)	इजिप्शियन हेनवेन	हापोसाइमीन	यथोपरि
6.	कौंच (बीज)	मुकूना प्रुरीएन्स	एल–डोपा	पारकिसोनियन बीमारी रोधक
7.	अफीम (फल)	पैपायर सोम्नीफेरम	मारफीन, कोडीन	दर्द निवारक
8.	संरंजन (जड़,बीज)	कोल्चीकम लूटियम	कॉल्वीसीन	गठियारोधी
9.	कलिहारी (जड़, बीज)	ग्लोरिओसा सुपर्बा	कॉल्वीसीन	गठियारोधी
10.	तिलपुष्पी (पत्ती)	डिजिटैलिस लैनाटा	डिजिटॉक्सिन, डाइगोक्सिन	हृदय टॉनिक
11.	कपास	गॉसीपियम हर्वेसिकम	गॉसीपॉल	गर्भ निरोधक
12.	वन ककड़ी (जड़)	पोडोफिलम हैक्जैड्रम	पोडोफाइलोटॉक्सिन	कैंसररोधी
13.	सोमलता (पौधा)	एकैड्रा जिरारडियाना	एफेड्रीन	अस्थमारोधी
14.	सदाबहार (पौधा)	कैथेरैथस रोजियस	विनब्लास्टीन, विनक्रिस्टीन	कैंसररोधी
15.	विरमी (पत्तियां)	टैक्सस बैकाटा	टैक्साल	कैंसररोधी
16.	बावची (बीज)	सोरैलिया कोरिलिफोलिया	सोरैलिन	ल्यूकोडर्मारोधी
17.	धतूरा (पौधा)	धतूरा मीटल	स्कोपोलेमीन, एट्रोपीन	अवसादक, पुतली प्रसारक
18.	जिनसेंग (पत्ती, फल)	पैनेक्स जिनसेंग	जिनसेंग	टॉनिक
19.	सतावर (जड़)	ऐस्पेरॉगस रैसीमोसस	रूटिन, एसपर्जीन	टॉनिक
20.	गूगल (गोंद)	कोम्मिफोरा वाइटाई	गुगुलिपिड	कॉलेस्ट्रालरोधी
21.	आंवला (फल)	एम्बिका आफिसिनेलिस	विटामिन सी	स्कर्वीरोधक
22.	मिल्कथिसिल	सिलीबम मैरियानम	सिलिबिनिन, सिलिडेनिन	यकृत रक्षी
23.	पिलोकार्पस (पत्ती)	पिलोकार्पस जैवोरैंडी	पिलोकार्पिन	नेत्र रोग, ग्लोकामा
24.	इसबगोल (भूसी)	प्लेंटैगो ओवेटा	प्राकृतिक कोलापडलीप म्यूसीलेज	कब्जनाशक
25.	सनाय (पत्ती, फल)	केसिपा सैना	सैनासाइड्	कृमिनाशक

निःसन्देह औषधीय पौधों के व्यवसायिक कृषिकरण का क्षेत्र प्रत्येक दृष्टि

से एक संभावना सम्पन्न क्षेत्र है परन्तु दुर्भाग्यवश कई कारणों के चलते इस क्षेत्र में पदार्पण करने वाले किसान उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं जितनी संभावनाएं इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। इस लिए वर्तमान में औषधीय पौधों की खेती के संदर्भ में सम्यक जानकारी का अभाव है जिसके प्रचार एवं प्रसार की आवश्यकता है।

●●●

1.1.9. सम्यक जानकारी की आवश्यकता

औषधीय पौधों की खेती कोई नई बात नहीं है क्योंकि अपने मरीजों की औषधीय आवश्यकताओं हेतु अपनी गृहवाटिकाओं में वैद्यो, हकीमों तथा आचार्यों द्वारा किन्हीं औषधीय पौधों की खेती की परम्परा हमारे यहां सदियों से चली आ रही हैं परन्तु यह एक व्यवसाय का माध्यम भी हो सकता है, इस ओर किसानों तथा व्यवसायियों का ध्यान हाल ही में गया है। सौभाग्यवश गत कुछ वर्षों में इस क्षेत्र ने काफी अधिक किसानों को अपनी ओर आकृष्ट किया है तथा व्यवसायिक स्तर पर औषधीय पौधों की खेती अपनाने वाले किसानों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

निःसन्देह व्यवसाय के अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र के परिणाम भी मिश्रित है। जहां 60 प्रतिशत किसान इस क्षेत्र में काफी अच्छी सफलता अर्जित कर रहे हैं वहीं 40 प्रतिशत किसान या तो असफल हैं अथवा अपेक्षाकृत कम सफल रहे हैं। क्यों बन रही है ऐसी स्थिति? क्यों प्रत्येक किसान सफल नहीं हो पा रहा इस क्षेत्र में? इस विषय की विवेचना करने पर पता चलता है कि औषधीय खेती का क्षेत्र अपने आप में एक विशिष्ट क्षेत्र है जो कि परम्परागत खेती से पूर्णतया भिन्न है। उदाहरणार्थ जहां परम्परागत फसलों की कृषि तकनीक आसान तथा स्पष्ट है वहां अधिकांश औषधीय फसलों की सही कृषि तकनीक की जानकारी अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है जिसके फलस्वरूप वे गल्तियां करते हैं तथा असफल होते हैं; जहां परम्परागत फसलों के प्रमाणित बीज किसी भी खाद–बीज भण्डार पर मिल जाते हैं वहीं औषधीय फसलों के बीजों के संदर्भ में न तो कोई प्रमाणिकता लागू है तथा न ही किसी विश्वसनीय स्रोत से इनकी उपलब्धता सुनिश्चित; परम्परागत फसलों के संदर्भ में किसान की प्रतिस्पर्धा दूसरे किसानों से होती है जिसे उपज प्राप्त करने हेतु लगभग वही खर्च करने पड़ते हैं जो प्रथम किसान को, जबकि औषधीय फसलों के संदर्भ में औषधीय किसान की प्रतिस्पर्धा जंगल से है जिनसे फसल प्राप्त करने में संग्रहणकर्ताओं को कोई खर्च नहीं करना पड़ता; तथा अंत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है– मार्केट

(विपणन)। जहां परम्परागत फसल मण्डी में बेची जा सकती है वहां अधिकांश औषधीय फसलों की बिक्री हेतु कोई निश्चित मण्डी नहीं है। औषधीय किसान अपनी उपज को कहां बेचेगा, किस दाम पर बेचेगा, बेच भी पाएगा अथवा नहीं यह सब अनिश्चित होता है। तथा इसी अनिश्चितता के चलते अधिकांश किसान इस क्षेत्र में सफल नहीं हो पा रहे हैं।

निःसन्देह उपरोक्तानुसार वर्णित कठिनाइयों के चलते औषधीय खेती का क्षेत्र एक कठिन क्षेत्र है परन्तु यदि इन्हीं मूलभूत पहलुओं पर ध्यान दिया जाए तो असफलता की संभावनाएं अपेक्षाकृत कम हो जायेंगी। औषधीय खेती के क्षेत्र में पदार्पण करने के इच्छुक नवकृषकों के मार्गदर्शन हेतु निम्नलिखित जानकारियों का होना आवश्यक है–

1.1.9 सम्यक जानकारी की आवश्यकता :

औषधीय कृषि के क्षेत्र में वर्तमान में अधिकांशतः वे लोग आ रहे हैं जिन्हें औषधीय पौधों के बारे में कोई व्यवहारिक एवं प्रयोगात्मक जानकारी नहीं होती है। केवल उन्होंने किसी मित्र से अथवा किसी पत्र–पत्रिका से पढ़ा हुआ होता है कि औषधीय पौधों की खेती बहुत अधिक लाभकारी है। यह स्थिति काफी खतरनाक होती है क्योंकि कहीं से उन्होंने जो कुछ भी सुना–पढ़ा, उसमें कितनी सच्चाई तथा व्यवहारिकता है, यह कहना बड़ा मुश्किल होगा। उदाहरणार्थ हाल ही में हमारे पास एक महाशय आकर बोले ''सर सुना है सफेद मूसली की खेती सात लाख रु. प्रति एकड़ का लाभ है। हमने तो अबकी बार 30 एकड़ में मूसली लगाने का प्लान बना लिया है।''हमने कहा ''हो सकता है आपने सही सुना हो। वैसे हमारे विचार में सफेद मूसली से प्रति एकड़ लगभग तीन–चार लाख रु. प्रति एकड़ तक का लाभ तो मिल सकता है परन्तु सात लाख रु. की कल्पना तभी की जा सकती है जब आपका सारा उत्पादन बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में बिक जाए जो भविष्य में संभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त इसका बीज भी काफी महंगा है अतः कृषक को शुरू में खर्च भी काफी अधिक करना पड़ेगा''

औषधीय पौधों की खेती हेतु सम्यक, व्यवहारिक, करके सीखो, एवं

प्रयोगात्मक अनुभव की सख्त आवश्यकता है अथवा औषधीय की खेती के सफल न होने पर खेती करने वाले कृषक को नुकसान होगा साथ–ही साथ समाज में औषधीय पौधों की खेती के प्रति एक गलत संदेश जायेगा जिसके कारण कृषकों में आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न होगा।

1.1.10 औषधीय कृषि को महज कृषि नहीं बल्कि ''व्यवसाय'' समझ कर अपनाएं

औषधीय कृषि के क्षेत्र में जो किसान असफल रहे हैं अथवा जो ज्यादा सफल नहीं हो पाए हैं उसकी एक प्रमुख वजह यही रही है कि वे इसे भी महज कृषि मानकर ही चलते रहे तथा इसे उन्होंने कभी व्यवसाय के रूप में नहीं देखा, जबकि आवश्यकता इस बात की है कि इसे एक व्यवसाय के रूप में देखा जाए।

1.1.11. शुरुआत छोटे स्तर से करें

रातों–रात लखपति बनने के चक्कर में नव किसानों का समूह औषधीय पौधों के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है जिसे औषधीय खेती का तो क्या सामान्य खेती का भी कोई अनुभव नहीं होता है। निःसन्देह इस आकर्षण के पीछे एक ही कारण है और वह है ''औषधीय पोधों से होने वाले लाभ की अकल्पनीय मात्रा'' बैंकों द्वारा औषधीय खेती हेतु आसानी से ऋण दिये जाने तथा किन्हीं संस्थाओं द्वारा इनकी खेती हेतु काफी मात्रा में अनुदान दिए जाने के कारण ये नव–किसान लाख समझाने के बावजूद इतनी बड़ी–बड़ी प्रोजेक्ट्स लगाने हेतु तैयार हो जाते हैं जिसकी एक सामान्य सोच–विचार वाला व्यक्ति प्रारंभ में शायद ही कल्पना करे। ऐसे नव किसानों के हश्र की सहज ही कल्पना की जा सकती है। प्रायः देखा गया है कि इनमें से 50 प्रतिशत लोग तो बैंक की प्रक्रियाओं में उलझ कर रह जाते हैं तथा कुछ समय के बाद प्रोजेक्ट का विचार ही त्याग देते हैं। शेष 45 प्रतिशत किसी तरह यदि प्रोजेक्ट लगाने में सफल हो भी जायें तो साल भर के बाद वे इतना अधिक घाटा उठा लेते हैं कि भविष्य में वे स्वयं तो क्या उनके परिवार अथवा पहचान वालों में से भी शायद ही कोई औषधीय पौधों की खेती करने का सपना देखें। इस वस्तुस्थिति की वजह यह होती है कि क्योंकि यह एक

नया कार्य है अतः प्रथम वर्ष में गल्तियां होना स्वभाविक है। यदि व्यक्ति प्रथम वर्ष में बिल्कुल छोटे स्तर से कार्य प्रारंभ करें तो यही संभावना 95 प्रतिशत तक हो सकती है। इसकी वजह यह है कि प्रथम वर्ष में छोटे स्तर पर कार्य करने पर व्यक्ति को उन समस्त परेशानियों की जानकारी मिल जाती है जो संबंधित फसल के संदर्भ में आ सकती है जिससे दूसरे वर्ष वह उसी प्रकार उसका समाधान कर सकता है; दूसरे, अगले वर्ष के लिए बीज अपने घर का हो जाता है जिस पर आगे ज्यादा खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती; तीसरे, वित्तीय संस्थानों/बैंक को स्वयं विश्वास हो जाता है। प्रायः वित्तीय संस्थाएं (चाहे बैंक में आपकी कितनी भी अच्छी साख क्यों न हो) प्रारंभ में किसी भी प्रोजेक्ट को ऋण देने में हिचकिचाती है, जबकि आप प्रथम वर्ष में छोटे स्तर पर कार्य प्रारंभ करके अपने खेत पर ले जाकर हो रहा कार्य दिखा दें तो उनका रवैया अपेक्षाकृत ''सकारात्मक'' हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम वर्ष में थोड़े क्षेत्र में कार्य प्रारंभ करके जो भी उत्पाद प्राप्त हुआ हो उसे बाजार में ले जाकर विक्रय भी किया जा सकता है जिससे बाजार में कीमत भी पता चलती है तथा बाद में बड़े स्तर पर इसको प्रारंभ किया जाए तो व्यक्ति बाजार की मांग के अनुसार अपने उत्पाद में सुधार अथवा परिवर्तन भी ला सकता है। इस प्रकार नव–किसानों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रथम वर्ष में बिल्कुल छोटे स्तर से ही कार्य प्रारंभ करें तथा एक वर्ष तक इसे सफलतापूर्वक करने के उपरान्त आगे फिर जितने बड़े स्तर पर जाना चाहें चलें जाऐं। प्रथम वर्ष में अधिकतम 0.25 एकड़ से लेकर 1 एकड़ तक के क्षेत्र में सफेद मूसली, एक एकड़ में सर्पगंधा, 5 एकड़ में अश्वगंधा, एक एकड़ में सनाय तथा एक एकड़ से अधिक के क्षेत्र में लैमनग्रास/सिट्रोनेला/पामारोजा/जामारोजा आदि नहीं लगाया जाना चाहिए।

1.1.12 विक्रय की व्यवस्था पहले से सुनिश्चित कर लें

किसी भी सामान्य व्यवसाय अथवा उद्योग की तरह औषधीय पौधों के क्षेत्र की भी एक प्रमुख समस्या है ''बाजार''। संभवतया परम्परागत फसलों तथा औषधीय फसलों में सबसे बड़ा अन्तर भी यही है कि जहां गेहूं, चना, धान को किसी भी स्थानीय मण्डी में बेचा जा सकत है, औषधीय

पौधों के संदर्भ में ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि अधिकांश औषधीय पौधों की कोई निश्चित मण्डी नहीं है। ऐसे में यदि किसी किसान ने कोई फसल उगा ली तथा वह बिकी नहीं तो इससे वह स्वयं तो हतोत्साहित होता ही है उसका उदाहरण दूसरों को भी हतोत्साहित करेगा। फलतः किसान जिस भी औषधीय खेती का विचार करे उससे पहले उसका सुनिश्चित बाजार उसके पास होना चाहिए।

1.1.13 किसी एक खरीददार के सहारे न बैठे रहें

चाहे उद्योग हो या व्यवसाय – यह किसी एक खरीददार के सहारे नहीं चल सकता। हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित हुई अधिकांश सहायक इकाइयों का हश्र शायद सबको पता होगा ही। किसी एक खरीददार के सहारे काम प्रारंभ न करने अथवा किसी एक ही खरीददार के सहारे न बैठे रहने संबंधी हमारी सलाह के कई कारण हैं। उदाहरणार्थ हो सकता है आपके खरीददार के पास उक्त उत्पाद की मांग न रही हो, हो सकता है उससे आपके व्यक्तिगत संबंध बिगड़ जायें, हो सकता है वह खरीददार स्वयं परेशानी में आ गया हो, हो सकता है आपकी मजबूरी देखकर वह आपसे संबंधित उत्पाद औने–पौने दामों में खरीदना चाहे, हो सकता है उसे कोई दूसरा आपसे अच्छा तथा कम दाम में माल देने वाला प्रदायकर्ता मिल गया हो अथवा हो सकता है वह अपने किसी रिश्तेदार को उस उत्पाद के लिए ''प्रमोट'' करवा रहा हो। कारण कुछ भी हो, परन्तु कुल मिलाकर प्रत्येक दृष्टि से नुकसान तो आपका ही होगा।

1.1.13 बाय–बैक गारंटी देने वालों से सावधान रहें

बाय–बैक गारंटी एक अति उत्तम व्यवस्था है परन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में इसका पूर्णतया अकाल पड़ा हुआ है। किन्हीं गिने–चुने तथा प्रतिष्ठित खरीददारों के उदाहरणों को छोड़ दें तो आसानी से देखा जा सकता है कि ''बाय–बैक'' का जाल महज बीज/प्लांटिंग मेटेरियल बेचने के एक साधन के रूप में अपनाया जाता है। प्रायः किसान सिर्फ ''बाय–बैक गारंटी'' शब्द सुनकर अथवा देखकर किन्हीं बीज प्रदायकों के झांसे में आ जाते हैं तथा जब तक उन्हें समझ में आता है तब तक बहुत देर हो चुकी

होती है यहां हमारा आशय यह कहना नहीं कि ''बाय–बैक पद्धति'' अथवा पुर्नखरीदी व्यवस्था कोई खराब व्यवस्था है, परन्तु दुर्भाग्य यह है कि हमारे यहां यह व्यवस्था प्रदान करने वाले सही लोग बहुत थोड़े हैं।

1.1.15 बीज उपयुक्त स्रोत से ही प्राप्त करें

औषधीय कृषि के क्षेत्र की प्रमुख रुकावटों में से एक प्रमुख रुकावट यह है कि अभी अधिकांश पौधों के बीजों का प्रमाणीकरण अथवा स्टैंडर्डडाइजेशन नहीं हो पाया है। फलतः किसानों को वही बीज खरीदने पड़ते हैं जिसके बारे में उन्हें कहीं से पढ़–सुन कर जानकारी मिली हो, चाहे उस बीज की गुणवत्ता अथवा प्रजाति कैसी भी हो। औषधीय पौधों की खेती के क्षेत्र के नवकृषकों के लिए आवश्यक होगा कि बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम तो वे किसी प्रतिष्ठित शोध संस्थान अथवा कृषि महाविद्यालय से ही संपर्क करें क्योंकि वहां से उन्हें सही वैरायटी का बीज मिलने की संभावनाएं ज्यादा रहेंगी तथा यदि इन संस्थाओं के पास बीज प्लांटिंग मेटेरियल उपलब्ध न हों तथा वे प्लांटिंग मेटेरियल हेतु किसानों से सम्पर्क करें। यह ध्यान रखें कि ये किसान भी वही होने चाहिये जो स्वयं बड़े स्तर पर खेती कर रहे हों। बीज खरीदने से पूर्व स्वयं जाकर उनके द्वारा की जा रही खेती अवश्य देखें। किसी भी स्थिति में बीजों/प्लांटिंग मेटेरियल की प्राप्ति हेतु ट्रेडर्स अथवा दलालों के चक्कर में न पड़ें तथा न ही उन किसानों के चक्कर में पड़े जो सिर्फ बीज बेचने के उद्देश्य से खेती कर रहे हों। इस प्रकार औषधीय खेती के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले किसानों के लिए यह बात विशेष ध्यान रखने की है कि वे बीज सही स्रोत शोध केन्द्रों से ही खरीदें क्योंकि यह सभी जानते हैं कि ''यदि बीज की नस्ल अच्छी तो फसल अच्छी''। अतः बीज की दर चाहे थोड़ी महंगी ही क्यों न हो, परन्तु उस की प्राप्ति का स्रोत सही होना चाहिए।

1.1.16 क्षेत्र की जलवायु तथा मिट्टी के अनुसार पौधों का चयन करें

प्रत्येक वनस्पति के उगने, पनपने, बढ़ने तथा उससे सही मात्रा एवं सही गुणवत्ता का उत्पादन प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार की

जलवायु की आवश्यकता होती है। सामान्य परिस्थितियों में केसर, कुठ तथा कुटकी के पौधे राजस्थान के जैसलमेर क्षेत्र में नहीं पनप सकते तथा सनाय एवं गुग्गुल आदि जैसे पौधे बर्फीले क्षेत्रों में नहीं उगाए जा सकते। इसी प्रकार कई पौधे किन्हीं अन्य क्षेत्रों में उगाए तो जा सकते हैं परन्तु उनसे सही मात्रा तथा गुणवत्ता का उत्पाद प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष जलवायु वाले क्षेत्र ही उपयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ देखा गया है कि लेमनग्रास की फसल उग तो राजस्थान में भी जाती है, मध्य प्रदेश में भी तथा आंध्रप्रदेश में भी परन्तु जहां तक उसमें पाए जाने वाले ''सिट्रल'' नामक तत्व का प्रश्न है, तो यह राजस्थान में उत्पन्न होने वाली लेमनग्रास में अपेक्षाकृत कम, मध्य प्रदेश में उससे ज्यादा तथा आन्ध्रप्रदेश में लगाई जाने वाली लेमनग्रास में सर्वाधिक उपलब्ध होता है। संभवतया इन क्षेत्रों की जलवायु में उपस्थित नमी में उत्तरोत्तर बढ़ोत्तरी का प्रभाव सिट्रल की मात्रा पर पड़ता हो। इसी प्रकार मूसली की फसल हो तो रेतीली जमीन में भी जाती है, परन्तु रेतीली जमीन में मूसली के ट्यूबर्स मोटे होने की बताय लम्बे होते चले जाते हैं जिससे उनमें गूदा कम निकलता है। फलतः मूसली का जितना अच्छा उत्पादन हल्की कपासिया मिट्टी में मिल सकता है उतना रेतीली मिट्टी में नहीं मिल पाता।

इसी प्रकार भूमि के प्रकार तथा उसकी विशेषताओं का ध्यान रखे जाने की भी आवश्यकता होती हैं उदाहरणार्थ अधिकांश पौधे ज्यादा पी.एच. वाली जमीनों में नहीं पनप पाते। इसी प्रकार काली कपासिया मिट्टी जहां कपास तथा मिर्ची आदि की फसल के लिए ज्यादा उपयुक्त होती है वहीं रेतीली मिट्टी में मूंगफली आदि जैसी फसलें ज्यादा बढ़त लेती हैं। बच तथा ब्राह्मी आदि जैसी फसलें जहां दलदली जमीनों में ही सही प्रकार पनपती हैं वहीं जमीन में ज्यादा नमी रह जाने से सफेद मूसली जैसी फसलों को बहुत अधिक नुकसान हो सकता है। अतः औषधीय खेती के इच्छुक किसानों को अपने क्षेत्र की जलवायु तथा मिट्टी का सही आकलन तथा परीक्षण करने के उपरान्त ही फसल का चयन करना चाहिए।

1.1.17 प्राथमिकता प्राप्त पौधों के कृषिकरण पर ज्यादा ध्यान दें

औषधीय पौधों के कृषिकरण के रास्ते में एक रुकावट यह भी है कि यहां किसानों की प्रतिस्पर्धा प्राकृतिक स्रोतों से है। एक किसान जो अपने खेत में कोई पौधा तैयार करता है उसे उसके कृषिकरण से संबंधित कई प्रकार के खर्च उठाने पड़ते हैं यथा बीज का खर्चा, खाद का खर्चा, फसल के रख–रखाव का खर्चा, जिस भूमि पर खेती की जा रही है उसका किराया आदि। इसके विपरीत जो पौधा प्राकृतिक स्रोतों से उपलब्ध हो रहा है उसमें ऐसी कोई लागत अथवा खर्चा सम्मिलित नहीं होता–केवल तोड़ने तथा सुखाने का ही खर्चा होगा क्योंकि इनके मामले में तो ''जो चीज सरकारी है वह चीज हमारी है'' वाली धारणा लागू होती है। जाहिर है कि प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त उत्पाद की लागत काफी कम रहेगी जिससे उसे कृषिकरण के माध्यम से तैयार उत्पाद की तुलना में काफी सस्ते में बेचा जा सकता है। हालाकि कृषिकरण के माध्यम से तैयार किए गए उत्पाद की और भी कई विशेषताएं होंगी तथा हो सकता है इसकी गुणवत्ता अपेक्षाकृत अच्छी हो, परन्तु समस्त पहलुओं के बावजूद खरीददार तो सस्ती वस्तु ही खरीदेगा। यही वजह है कि अभी भी कई उत्पादों के संदर्भ में कृषिकरण के माध्यम से प्राप्त माल जंगलों से प्राप्त होने वाले माल से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पा रहा है। गुड़मार पत्ती, सिन्दूरी बीज, बायबिडंग बीज, सफेद मूसली आंवला फल, सतावर की जड़ें, आदि के संदर्भ में यह स्थिति देखी जा सकती है तथा ऐसा लगता है कि काफी समय तक यह स्थिति बनी रहेगी। इस वस्तुस्थिति से बचाव का एक उपाय यह हो सकता है कि उन्हीं पौधों की खेती पर अपने प्रयास ज्यादा केन्द्रित किए जाएं जिन्हें जंगलों से लेना शासन द्वारा प्रतिबन्धित हो तथा इनका व्यापार अथवा उपयोग करने के इच्छुक व्यक्तियों को इनके संदर्भ में कृषिकरण का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना हो। इससे इन पौधों के उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा दूसरे उत्पादकों से ही होगी न कि मुफ्त में प्राप्त की गई वस्तु से। सर्पगंधा, वत्सनाभ, कुठ, कुटकी, अतीस, चिरायता, केसर, जटामांसी आदि कुछ ऐसे ही पौधे हैं जिन्हें शासन द्वारा प्राकृतिक स्रोतों से लेने पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है। जाहिर है जो भी इनका विक्रय करेगा वह इन्हें खेती के माध्यम से ही तैयार करेगा तथा इनकी प्रतिस्पर्धा मुफ्त में (जंगलों से) मिलने वाली वस्तु से नहीं होगी। इससे इनके दाम अपेक्षाकृत काफी हद तक अच्छे तथा स्थिर रहेंगे।

1.1.18 पर्यावरण सुधार तथा मानव हित को सर्वोपरि मान कर चलें

औषधीय कृषकों को प्रारंभ से ही यह बात गांठ बांध लेनी चाहिए कि वे अन्य सामान्य कृषकों की तरह महज ''अन्नदाता'' नहीं, बल्कि ''जीवनदाता'' भी हैं। इस दृष्टि से उत्कृष्ट खेती के साथ–साथ पर्यावरण सुरक्षा भी उनकी जिम्मेदारी हो जाती है। जिसका प्रथम महत्वपूर्ण चरण होगा–औषधीय खेती के पूर्णतया जैविक पद्धतियां अपनाना। औषधीय खेती के क्षेत्र में पदार्पण करने के निर्णय के साथ ही इन किसानों द्वारा यह निर्णय भी ले लिया जाना चाहिए कि उन्हें अपनी खेती के संदर्भ में केवल जैविक विधियों का ही उपयोग करना है। चाहे यह खाद के उपयोग के उपयोग की बात हो, बीज शोधन की बात हो अथवा रोग नियंत्रण की बात हो, इन सबके लिए जैविक खादों अथवा जैविक कीटनाशकों का ही उपयोग किया जाना चाहिए। यह और भी उत्तम होगा यदि औषधीय किसान यह खाद अथवा कीटनाशक अपने फार्म पर ही बनाए। इसके लिए फार्म पर ही नाडेप टांके अथवा कम्पोस्ट के निर्माण हेतु गड्ढे बनाए जा सकते हैं जिससे स्थानीय रूप से उपलबध कचरे तथा अन्य संसाधनों का ही सही उपयोग हो जाएगा, खादों एवं कीटनाशकों पर होने वाले अनावश्यक खर्च में भी कमी आएगी तथा पर्यावरण के सुधार में भी किसान का योगदान रहेगा। इसी के साथ एक महत्वपूर्ण पहलू जुड़ा है मानव हित का। क्योंकि ये जड़ी बूटियां मानव मात्र के उपयोग की होती हैं अतः यदि इनके उत्पादन, संरक्षण तथा सुरक्षा में रासायनिक विधियों के उपयोग की बजाय जैविक विधियों का उपयोग किया जाए तो इनकी प्रभावशीलता स्वतः ही बढ़ जाएगी। इनके साथ–साथ जैविक पद्धति से उपजाए गए पौधों का मार्केटिंग की दृष्टि से भी महत्व है। किन्हीं खरीददारों द्वारा जैविक विधियों से उपजाए गए पौधों के 30 प्रतिशत अधिक दाम दिए जाते हैं। इसी प्रकार यदि आपको अपनी जड़ी–बूटी किसी विदेशी फर्म को निर्यात करनी है तो इसके लिए उसका जैविक विधि से उगाया गया होना एक प्रमुख शर्त होती है। इस प्रकार चाहे मानव हित अथवा स्वास्थ्य की दृष्टि से देखा जाए अथवा पर्यावरण सुरक्षा की दृष्टि से, उत्पादन की गुणवत्ता की दृष्टि से देखा जाए अथवा विपणन की दृष्टि से प्रत्येक संदर्भ में जैविक विधियों का उपयोग करके उगाए गए औषधीय पौधों का अपना

महत्व होता है। अतः इस क्षेत्र में पदार्पण करने वाले किसानों को चाहिए कि औषधीय पौधों के कृषिकरण में वे केवल जैविक विधियों का ही उपयोग करें अथवा यूं कहें कि उनकी ''सोच ही जैविक'' हो।

1.1.19 राजस्व अभिलेखों में औषधीय खेती के संदर्भ में लिखित सूचना दें

जब भी आप किसी औषधीय पौधे की खेती प्रारंभ करें, इसकी राजस्व अभिलेखों (खसरा–खतौनी अथवा फार्म बी–1) में एन्ट्री करवाना न भूलें। ऐसा करवाने के कई लाभ हैं जिन्हें निम्नानुसार देखा जा सकता है–

(क) अभी तक सभी कृषि उत्पादों को शासन द्वारा करों से मुक्त रखा गया है, परन्तु यदि आप किसी वस्तु की ट्रेडिंग करते हैं तो आपको बिक्री कर तथा अन्य कर देने होते हैं। अब यदि आप कोई औषधीय उत्पाद (उदाहरणार्थ–गुड़मार के पत्ते) बिक्री के लिए लेकर जाते हैं तो आपसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आप इसे लाए कहां से हैं? यदि आप इसे जंगल से तोड़कर लाए है अथवा किसी स्थान से खरीदकर अथवा इकट्ठा करके लाए हैं तो इस पर आपको बिक्री कर चुकाना होगा जबकि यदि आपने इसे अपने खेत में उपजाया है तो आपको इस पर कर देने की आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु आप यह किसी प्रकार प्रमाणित करेंगे कि यह कृषिकरण के माध्यम से प्राप्त उत्पाद है न कि किसी से खरीदा हुआ? ऐसे में इस उत्पाद की पटवारी के बी–1 फार्म में एन्ट्री ही इसके कृषिकरण का प्रमाण होगी तथा आपको करों के भुगतान के अनावश्यक पचड़ों से बचाएगी।

(ख) शासन द्वारा फारेन ट्रेड डेवलपमेन्ट एण्ड रेगुलेशन एक्ट–1992 के अंतर्गत कई पौधों के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया हुआ है (वर्तमान में ऐसे पौधों की संख्या 29 है परन्तु इस एक्ट में यह भी प्रावधान है कि यदि आप इन पौधों की खेती करते हैं तथा सक्षम अधिकारी से इसका प्रमाण पत्र/लाइसेंस ले लेते हैं तो इनका निर्यात/व्यापार किया जा सकता है। यह प्रमाणपत्र/लाइसेंस/अनुमति लेने के लिए भी यह आवश्यक होता है कि राजस्व अभिलेखों से यह प्रमाणित हो कि अमुक खसरा में अमुक औषधीय पौधे की खेती की गई है। फलतः लाइसेंस प्राप्त करने हेतु भी

राजस्व अभिलेखों में उक्त एन्ट्री आवश्यक है।

(ग) कई वन उत्पादों के संदर्भ में एक परिक्षेत्र/मण्डल से दूसरे परिक्षेत्र/मण्डल में इसका परिवहन करने हेतु ट्रांजिट पास (टी.पी.) की आवश्यकता होती है। टी.पी. मिलना ज्यादा आसान हो जाता है यदि संबंधित उत्पाद किसान द्वारा तैयार किया गया है न कि यह वनोपज है जिसका एक सर्वमान्य प्रमाण इसकी राजस्व अभिलेखों में एन्ट्री होती है।

(घ) प्राकृतिक आपदाओं (बाढ़, तुषार, सूखा आदि) की स्थिति में कई बार शासन द्वारा किसानों को उनकी बर्बाद हुई फसलों के लिए मुआवजा दिया जाता है यह मुआवजा फसल की प्रकृति तथा इसके स्वरूप पर निर्भर करता है। इस स्थिति में यदि किसान की फसल परम्परागत फसल से ज्यादा महंगी है तो उसे अपेक्षाकृत ज्यादा मुआवजा प्राप्त करने की पात्रता होगी। संबंधित किसान ने कौन सी फसल लगाई थी इसका प्रमाण तो पटवारी राजस्व अभिलेख से ही प्राप्त होगा।

(च) वर्तमान में औषधीय खेती की ओर किसानों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से शासन तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा किसानों को कई प्रकार के अवार्ड्स तथा पारितोषिक दिए जा रहे हैं। इन अवार्ड्स को प्राप्त करने हेतु अन्य योग्यताओं तथा आधारों के साथ–साथ इस बात का भी मूल्यांकन किया जाता है कि अमुक किसान कितने लम्बे समय से इस प्रकार की खेती में संलग्न है, जिसका एक पुष्टि प्रमाण राजस्व अभिलेख ही होते हैं।

शासकीय स्तर पर भी इस प्रकार के अभिलेख का काफी महत्व होता है क्योंकि इसी के अनुसार शासकीय स्तर पर संबंधित क्षेत्र के प्रोत्साहन हेतु नीतियां बनाई जाती हैं तथा इसके लिए मण्डियों अथवा बिक्री आदि की व्यवस्था हेतु भी प्रयास किए जा सकते हैं।

औषधीय खेती की राजस्व अभिलेख में एन्ट्री करवाने से संबंधित किसान को कई लाभ प्राप्त हो सकते हैं अतः ऐसी सूचना दर्ज करवाने में न तो चूक होनी चाहिए तथा न ही देर।

सम्यक जानकारी के बाद औषधीय पौधों की खेती करना औषधीय

कृषकों के हित में होगा, तथा प्रारंभ में चार–पांच पौधों की खेती हेतु प्रयोग करें और अंततः किसी एक पौधे की खेती में महारत हासिल करें; लम्बी तथा कम अवधि की फसलों के बीच सही संतुलन बनाकर चलें (उदाहरणार्थ आंवला तथा बेल जैसी फसलों के बीच कम अवधि की फसलें जैसे कालमेघ, अश्वगंधा, मूसली आदि लगाएं जिससे लम्बी अवधि की फसलों का लाभ मिलने वाले समय तक का इंतजार करना कष्टप्रद न हो); यदि आप लीज पर भूमि ले रहे हैं तो उसका अनुबंध अथवा ''लीज डीड'' ठीक तरह से बनवाएं; प्रारंभ में जो भी खेती करें उसका ज्यादा प्रचार–प्रसार न करें परन्तु एक बार सफलता मिल जाए तो उसका खूब प्रचार–प्रसार करें तथा दूसरों को भी उसकी जानकारी दें; औषधीय पौधों की कृषि से संबंधित नए–नए प्रयोग करते रहें; परामर्शदाताओं के चक्कर में पड़ने की बजाए स्वयं में ही क्षमता विकसित करें' तथा अपने खरीददारों से ऐसे व्यवहार करें जिससे उनमें आपके प्रति विश्वास पैदा हो।

❖❖❖

इकाई 1

खाली स्थान भरो–

1. भूमध्य सागरीय तथा अरब देशों की चिकित्सा में..... .....के बीजों का काढ़ा गुर्दे की बीमारियों में दिया जाता है।
2. .....की जड़ों का इस्तेमाल कीड़ों तथा सर्पदंश आदि में विषरोधी के रूप में प्रयोग किया जाता है।
3. सिफैरेथिन नामक पदार्थ .....के पौधों से निकाला जाता है जो क्षय रोग में सहायक है।
4. रूटिन ग्लाइकोसाइड .....पौधे से प्राप्त होता है जो अब परमाणु विकिरण कुप्रभावों के उपचार में प्रयोग होता है।
5. .....की गोंद मस्से इत्यादि को समाप्त करने में उपयोगी है।
6. डिजिटिलिस परप्यूरिया से .....नामक ग्लाइकोसाइड हृदय टॉनिक में इस्तेमाल होता है।
7. कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन की स्थापना सन् ....में हुई।
8. इण्डियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्यूटिकल्स के नये संयंत्र की स्थापना सन्..... .....में हैदराबाद में की गई।
9. नई औषधियों की खोज के लिए सन्.....में केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान (सी.डी.आर.आई.) की स्थापना की गई।
10. सन् 1981–82 में औषधियों के आयात मूल्य रु. ....एवं निर्यात मूल्य रु. .....की गणना की गयी।
11. तमिलनाडु में.....तथा..... .....की खेती को बड़े पैमाने पर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. भारतीय कृषि में औषधीय पौधों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. एलोपैथिक दवाओं में औषधीय पौधों के प्रयोग पर विवरण लिखिए।
3. औषधीय पौधों की खेती करने से पूर्व किन–किन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

❖❖

इकाई –2

2.1 औषधीय खेती में जैविक पद्धति का महत्व तथा इससे जुड़ी विभिन्न विधाएं

2.1.1 प्रस्तावना

2.1.2 उद्देश्य

2.1.3 जैविक पद्धति की उपयोगिता

2.1.4 भूमि की उर्वराशक्ति में टिकाऊपन

2.1.5 लागत में कमी

2.1.6 वातावरण की शुद्धता

2.1.7 मानव स्वास्थ्य के लिए लाभकारी

2.1.8 पानी की आवश्यकता

2.1.9 पशुओं के महत्व में बढ़ोत्तरी

2.1.10 पैदावार की गुणवत्ता निश्चित करना

2.1.11 मृदा हेतु सभी उपयोगी तत्वों की आपूर्ति

2.1.12 उत्पाद का अधिक मूल्य

2.1.13 निर्यात बाजार के लिए अनिवार्य आवश्यकता

2.2 औषधीय पौधों की खेती के संदर्भ में जैविक पद्धति का महत्व

1.2.1 जैविक पद्धति की प्रमुख विधाएं

2.2.2 हरी खाद

2.2.3 गोबर की खाद

2.2.4 वर्मी कम्पोस्ट या केचुआ खाद

2.2.5 जैव गतिकीय विधियां

2.1 औषधीय खेती में जैविक पद्धति का महत्व तथा इससे जुड़ी विभिन्न विधाएं

2.1.1 प्रस्तावना

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि वर्ष 1966–67 में भारत की 48 करोड़ जनता को खिलाने के लिए देश में अनाज नहीं था जिसके कारण 2 करोड़ टन अनाज का आयात करना पड़ा था। परन्तु इसके बाद आई हरित क्रांति के फलस्वरूप न केवल देश के अनाज के उत्पादन में 70 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई बल्कि देश निर्यात करने की स्थिति में भी पहुंच गया। दुर्भाग्यवश इस हरित क्रांति की चकाचौंध ने अपने सारे प्रयास अंधाधुंध रसायनों तथा कीटनाशकों पर केन्द्रित कर दिए जिसके कुछ परिणाम तो तत्काल ही दृष्टिगोचर होना प्रारंभ हो गए जबकि शेष दुष्परिणाम वर्तमान और भविष्य की पीढ़ी जीवन पर भुगतने को मजबूर हो गई है। फसलों पर कीटनाशक छिड़कते–छिड़कते बेहोश हो जाने तथा मुर्गे का मांस (जिसने कीटनाशक युक्त दाने चुग लिए थे) खा लेने से सारे परिवार की मृत्यु हो जाने जैसी खबरें आज आम हो गई हैं। कौवे, गिद्ध, चील एवं गौरैया की संख्या दिन पर दिन घटती जा रही है। बायोवेद शोध संस्थान के वैज्ञानिकों ने अपने शोध प्रयोगों के दौरान पाया कि कीटनाशक युक्त भोजन या मांस खाने से कौवे, गिद्ध एवं चील के दिये हुए अंडों के निषेचन हेतु जब मादा अंडों पर बैठती है तो अंडे निषेचन के पहले टूट जाते हैं जिसके कारण बच्चों का जन्म नहीं हो पा रहा है इसलिए संख्या दिन पर दिन घटती जा रही है। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि इन ''आधुनिक'' उर्वरकों का उपयोग करके जहां भूमि बंजर होती जा रही है तथा उत्पादन में स्थिरता (पिछले कुछ वर्षों में भारत का कुल अनाज उत्पादन लगभग 20 करोड़ टन के आस–पास ठहर सा गया है) आ चुकी है, वहीं किसान गरीब से गरीब होता जा रहा है क्योंकि उसकी कमाई का काफी बड़ा भाग इन उर्वरकों तथा कीटनाशकों को खरीदने पर ही व्यय हो रहा है। इसके अतिरिक्त फसलों पर लगने वाले

रोगों तथा व्याधियों में निरन्तर बढ़ोतरी होती जा रही है। क्योंकि भूमि में जीवांश की मात्रा बिल्कुल कम होने के साथ–साथ रूखी भी हो गई है), वातावरण प्रदूषित होता जा रहा है, तथा मानव मात्र अनेकों प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक बीमारियों से ग्रसित होता जा रहा है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट दर्शाती है कि कीटनाशकों के जहरीले प्रभाव से होने वाली दुर्घटनाओं में भारत तीसरे स्थान पर है। यदि हमारे यहां विभिन्न फसलों पर प्रयुक्त होने वाले कीटनाशकों के प्रभावों को आंका जाए तो एक अत्यंत डरावनी तस्वीर उभरती है। उदाहरणार्थ एल्ड्रिन का इस्तेमाल रक्त कैंसर को जन्म दे सकता है; डी.बी.सी.पी. के इस्तेमाल से कैंसर तथा नपुंसकता हो सकती है; सेबों पर छिड़के जाने वाले कीटनाशक ''डमिनोजाइड'' का थोड़ा सा अंश भी यदि मानव शरीर में प्रविष्ट हो जाए तो यह कैंसर को जन्म दे सकता है; लिंडेन तथा हैप्टाक्लोर मानव के ''बोन मैरो'' को प्रभावित करते हैं; फलों पर छिड़के जाने वाले कीटनाशक मैलाथियॉन तथा पैराथियॉन मानव के ''न्यूरो तंत्र'' को प्रभावित करते हैं। यही स्थिति रासायनिक उर्वरकों की भी है जिनके माध्यम से अनेकों प्रकार के जहर हमारे शरीर में प्रवेश कर रहे हैं। इनके शाक सब्जियों पर प्रयोग से उनके माध्यम से कई भारी वस्तुएं जैसे मर्करी, लेड सेलेनियम, निकल, क्रोमियम, मालीब्डिनम आदि हमारे शरीर में प्रवेश कर रही हैं जिनसे अनेक बीमारियां जैसे हृदयरोग, हायपरटेन्शन, श्वास की बीमारी, अनुवांषिक रोग, दौरे, एनीमिया, नैफ्रेसिस आदि के होने का खतरा हमारे चारों ओर मंडरा रहा है। नाइट्रोजन उर्वरक का अत्यधिक उपयोग भी खतरनाक है। यह नाइट्रोजन नाइट्रेट के रूप में सब्जियों तथा फलों में जमा हो जाता है तथा इनसे प्रभावित फल सब्जियां मानव रक्त में नाइट्रेट की मात्रा बढ़ाती हैं जो खतरनाक हैं तथा कभी–कभी इसकी वजह से रक्त में आक्सीजन वहन की क्षमता कम हो जाती है जो दिल के दौरे को जन्म देती हैं।

इंटरनेशनल फाउन्डेशन ऑफ आर्गेनिक एग्रीकल्चर मूवमेन्ट (आयफाम) नाम अंतर्राष्ट्रीय संस्था, जो कि जैविक खेती को बढ़ावा देने हेतु उल्लेखनीय कार्य कर रही है, द्वारा भारतीय बाजारों से खाद्य प्रदूषण जांचने हेतु जो नमूने लिए गए उनमें आलू के 100 नमूनों में से 12 तथा टमाटर के 100

नमूनों में से 48 में जहर पाया गया। इसी प्रकार बायोवेद शोध संस्थान के वैज्ञानिकों ने एक शोध में पाया कि प्रत्येक भारतीय नागरिक विभिन्न खाद्यान्नों के माध्यम से प्रतिदिन 0.27 मि.ग्रा. जहर खा रहा है। एक वर्ष में यह मात्रा 100 मि.ग्रा. हो जाएगी। यदि एक साथ इतना जहर खा लिया जाए तो मृत्यु सुनिश्चित है। आखिर क्या हल है इस वस्तुस्थिति का? काफी सोच विचार, अनुसंधान तथा व्यवहारिक प्रयोग करने के उपरान्त इस वस्तु स्थिति का जो हल सामने आया है, वह है कि ''जैविक पद्धति से खेती''।

जैविक पद्धति कोई नई पद्धति नहीं है बल्कि यह भारतीय संस्कृति की पारम्परिक पद्धति है जिसे आधुनिक विज्ञान के समन्वय से पुर्नप्रतिपादित किया गया है। खेती की इस प्रकार की पद्धति की परिकल्पना सर अलबर्ट हाबर्ट ने वर्ष 1930 में की थी। वस्तुतः खेती की यह पद्धति फसल चक्र, फसल अवशेष, हरी खाद, कार्बनिक खाद, गोबर की खाद, यान्त्रिक खेती, जैविक कीटनाशकों तथा खनिजधारी चट्टानों के प्रयोग पर विश्वास करती है जिससे भूमि की उत्पादकता तथा उर्वरता लम्बे समय तक बनी रहती है। इससे खाद्य पदार्थ भी रासायनिक यौगिकों से रहित रहकर अधिक सुपाच्य, स्वादिष्ट तथा गुणकारी मिलते हैं। जैविक पद्धति के प्रमुख सिद्धान्त हैं– खेती के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग, भूमि का आवश्यक एवं जीवन्त उपयोग, प्राकृतिक समझ–बूझ पर आधारित कृषि क्रियाएं, जैविक प्रणाली पर आधारित फसल सुरक्षा एवं पोषण, भूमि में टिकाऊ उर्वरता, उचित पोषित खाद्य उत्पादन तथा पर्यावरणीय मित्रवत प्रौद्योगिकियों द्वारा अधिकतम खाद्य उत्पादन।

2.1.2 उद्देश्य

औषधीय फसलों की खेती में मुख्य रूप से जैविक खाद ही प्रयोग में लाने पर बल।

2.1.3 जैविक पद्धति की उपयोगिता

जैविक पद्धति न केवल भूमि के स्वास्थ्य, बल्कि मानव–मात्र के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी पद्धति है। इसकी बहुपक्षीय उपयोगिताओं को निम्नानुसार देखा जा सकता है–

2.1.4 भूमि की उर्वराशक्ति में टिकाऊपन : जैविक पद्धति में प्रयुक्त की

जाने वाली विभिन्न खादें न केवल भूमि को पोषक तत्व उपलब्ध करवाती हैं, अपितु भूमि की संरचना, रून्ध्रता तथा जलधारण क्षमता में भी वृद्धि करती हैं। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति में निरन्तर बढ़ोतरी होती है तथा भूमि लगातार अच्छी पैदावार देती है।

2.1.5 लागत में कमी : जैविक पद्धति में किसान अधिकतर उत्पाद–खादें तथा कीटनाशक अपने स्थानीय स्रोतों से ही बना लेता है जिससे विभिन्न कृषि आदानों पर होने वाली लागत में कमी आती है।

2.1.6 वातावरण की शुद्धता : परम्परागत पद्धति में प्रयुक्त किए जाने वाले हानिकारक रसायन न केवल पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं बल्कि ये कृषि हेतु लाभदायक जीवों को भी नष्ट कर देते हैं। जैविक पद्धति में इनका संतुलन बना रहता है तथा इनकी संख्या में भी बढ़ोत्तरी होती है।

2.1.7 मानव स्वास्थ्य के लिए लाभकारी– परम्परागत कृषि पद्धति में खेती हेतु प्रयुक्त किए जा रहे रसायनों के कारण वायु तथा भूमि प्रदूषण खतरनाक स्तर तक पहुंच गए हैं। यही नहीं इनका प्रयोग करके उत्पादित होने वाले अनाज, सब्जियों तथा फलों में भी विभिन्न रसायनों के अवशेष प्रचुर मात्रा में रहते हैं। जैविक पद्धति अपनाकर इस प्रकार के धीमे जहर से छुटकारा मिलेगा तथा इनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली बीमारियों से भी मानव मात्र की रक्षा होगी।

2.1.8 पानी की आवश्यकता : जीवांश खादों के प्रयोग से भूमि को सिंचाई की भी कम आवश्यकता पड़ती है क्योंकि ये खादें भूमि की जल धारण क्षमता को बढ़ाती हैं। इस प्रकार सिंचाई की अपेक्षाकृत कम व्यवस्था होने पर भी किसान अच्छी फसल ले सकता है।

2.1.9 पशुओं के महत्व में बढ़ोत्तरी : पृथ्वी पर जन्मे प्रत्येक प्रणाली का अपना महत्व होता है। परम्परागत पद्धति जो कि पूर्णतया रासायन आधारित हो गई थी, से पशुधन का महत्व लगभग समाप्त हो गया था जोकि जैव विविधता की दृष्टि से एक अच्छा संकेत नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत जैविक पद्धति में पशुधन को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिससे समृद्धि आना अवश्यम्भावी है।

2.1.10 पैदावार की गुणवत्ता सुनिश्चित : अधिकांशतः लोग यह जानते हैं कि वर्तमान में किसान दो प्रकार की पैदावार लेते हैं– टिकाऊ तथा बिकाऊ। इनमें से टिकाऊ प्रकार की फसल का उपयोग वे स्वयं के लिए करते हैं क्योंकि इसमें वे किसी प्रकार की रासायनिक खाद अथवा कीटनाशक का उपयोग नहीं करते जबकि बिकाऊ प्रकार की फसल वे बाजार के उद्देश्य से तैयार करते हैं। किसान जानता है कि बिकाऊ प्रकार की फसल का उपयोग यदि वह अपनी घरेलू उपयोग के लिए करेगा तो यह उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है। जैविक पद्धति अपनाने पर उसका उत्पाद स्वाभाविक रूप से स्वाद, सुपाच्य, गुणों से भरपूर तथा हानिकारक रसायनों के प्रभाव से मुक्त होगा।

2.1.11 मृदा हेतु सभी उपयोगी तत्वों की पूर्ति : जैविक खादों के उपयोग से फसल को सभी 16 आवश्यक तत्वों की पूर्ति एक साथ हो जाती है। जहां अधिकांश रासायनिक उर्वरक केवल नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश पर ही केन्द्रित रहते हैं, वहीं जैविक खादों में समस्त 16 तत्व जैसे नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश, कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, सल्फर, कैल्शियम, जिंक, मैग्नीशियम, कॉपर, आयरन, मैंगेनीज, बोरॉन क्लोरीन तथा मोलिब्डेनम की प्राप्ति एक साथ हो जाती है।

2.1.12 उत्पाद का अधिक मूल्य : वर्तमान में अधिकांशतः उपभोक्ता रासायनिक विधियों द्वारा पोषित एवं सुरक्षित खाद्यान्नों तथा उत्पादों के सेवन से होने वाली हानियों के प्रति सचेत हो गए हैं, फलतः ''आर्गेनिक फूड'' तथा ''आर्गेनिक उत्पादों'' के नाम से अलग से दुकानें/बाजार लगने लगे हैं जिनके लिए जानकार उपभोक्ता 25 से 30 प्रतिशत तक अधिक मूल्य देने के लिए तैयार रहते हैं।

2.1.13. निर्यात बाजार के लिए अनिवार्य आवश्यकता है आर्गेनिक उत्पाद : देशीय बाजारों के साथ–साथ अर्न्तराष्ट्रीय बाजारों में भी जैविक पद्धति से उत्पादित उत्पादों की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। किन्हीं देशों के संदर्भ में तो संबंधित उत्पाद का निर्यात के लिए जैविक पद्धति से उत्पादित होना एक मूलभूत आवश्यकता होती है तथा इसे ''गुड एग्रीकल्चरल प्रैक्टिसेज'' का आधारबिन्दु माना जाता है। इस प्रकार यदि आप अपने

उत्पाद का निर्यात करना चाहें तो इसका बिना किसी रासायनिक उर्वरक अथवा कीटनाशक के उपयोग के जैविक पद्धति से तैयार होना आधारभूत आवश्यकता होती है।

वर्तमान में इजराइल फलों एवं सब्जियों को जैविक पद्धति से उगाकर विदेशों को भारी मात्रा में निर्यात कर रहा है। जैविक पद्धति से उत्पादित ब्राजील की शक्कर, टर्की के सूखे मेवों तथा केन्या की चाय एवं काफी की विश्व भर में भरपूर मांग है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि जैविक पद्धति से खेती करना प्रत्येक दृष्टि से किसान के लिए अत्यधिक हितकारी है।

2.2 औषधीय पौधों की खेती के संदर्भ में जैविक पद्धति का महत्व

औषधीय पौधों की खेती में तो जैविक पद्धति अपनाना और भी अधिक महत्वपूर्ण है। हम सभी जानते हैं कि पूर्व में सभी जड़ी–बूटियां जंगलों में प्राकृतिक रूप से उगती थीं। (आज भी 95 प्रतिशत से ज्यादा जड़ी बूटियों की प्राप्ति का स्रोत जंगल ही है) तथा इन्हें वहां किसी प्रकार की कृत्रिम खाद आदि नहीं दी जाती। इनके इतने अधिक प्रभावी होने की वजह भी शायद यही थी। कालांतर में जब इनका कृषिकरण प्रारंभ हुआ तो इनके पोषण हेतु कृत्रिम खादों तथा कीट सुरक्षा हेतु कीटनाशकों का प्रयोग प्रारंभ हुआ जोकि किसी भी स्थिति में इन फसलों के लिए उपयुक्त नहीं है। एक तो इनको कभी उस प्रकार का (रासायनिक) परिवेश नहीं मिला, दूसरे ये मानव मात्र के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए तैयार की जाती हैं सामान्य फसलों के संदर्भ में जब हम रासायनिक खादों एवं कीटनाशकों के दुष्प्रभावों से भली भांति परिचित हैं इसलिए औषधियों का रसायनरहित होना मूलभूत आवश्यकता है। इन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है इनका बाजार। यह संभवतया सभी जानते हैं कि यदि आपको अपना उत्पाद (जड़ी–बूटी) निर्यात करनी है तो उसका जैविक पद्धति से उगाया हुआ होना उसकी प्रथम आवश्यकता होती है। देशीय खरीददार भी जैविक पद्धति से उगाई गई जड़ी बूटियों को ज्यादा महत्व देते हैं। (कई बार तो वे इनके ज्यादा दाम भी दे सकते हैं) अतः ओषधीय पौधों की खेती के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले कृषकों को एक बात

प्रारंभ से ही गांठ बांध लेनी चाहिए कि उन्हें हर हाल में अपनी खेती पूर्णतया जैविक पद्धति से ही करनी है– एक प्रकार से उनकी सोच ही जैविक होनी चाहिए।

2.3 जैविक पद्धति की प्रमुख विधाएं

वृहद रूप से चर्चा की जाए तो जैविक पद्धति को एक पद्धति न मानकर सोच के रूप में निरूपित किया जाना चाहिए जिससे किसी भी स्थिति में रासायनिक खादों अथवा कीटनाशकों का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। वैसे औषधीय पौधों के संदर्भ में जैविक विधियों को मुख्यतया दो भागों में बांटा जा सकता है– (1) पौध पोषण हेतु जैविक विधियाँ तथा (2) पौध सुरक्षा हेतु जैविक विधियां, प्रस्तुत लेख में ऐसी ही कुछ कम लागत में अपनाई जा सकने वाली पद्धतियों, जिनमें अधिकांशतः स्वनिर्मित जैविक खादें तथा कीटनाशक हैं, से संबंधित विवरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(क) पौध पोषण हेतु जैविक विधियां

पौध पोषण के अंतर्गत जैविक पद्धति में किए जा सकने वाले कुछ प्रमुख कार्य निम्नानुसार हैं–

1. हरी खाद का उपयोग।
2. नाडेप पद्धति से निर्मित खाद का उपयोग (कच्चा नाडेप, पक्का नाडेप, टटिया नाडेप तथा फास्को कम्पोस्ट नाडेप)।
3. वर्मीकम्पोस्ट अथवा केंचुआ खाद।
4. गोबर से शीघ्र तैयार होने वाली खादें (अमृत पानी, अमृत संजीवनी, मटका खाद, वर्मीवाश आदि)।
5. बायोडायनामिक (जैवगतिकीय पद्धतियां विशेषतया सींग खाद
6. अग्निहोत्र पद्धति

2.3.1 हरी खाद

हरी खाद से अभिप्राय उन फसलों से तैयार की जाने वाली खाद से है जिन्हें केवल खाद बनाने के उद्देश्य से ही लगाया जाता है तथा इन पर

फल–फूल आने से पहले ही इन्हें मिट्टी में दबा दिया जाता है। ये फसलें सूक्ष्म जीवों द्वारा विच्छेदित होकर भूमि में ह्यूमस तथा पौधों की वृद्धि के लिए आवश्यक पोषक तत्वों की मात्रा में वृद्धि करते है।

अ. मिट्टी को हरी खाद से लाभ

मृदा को हरी खाद के कई लाभ हैं, यथा– इसके उपयोग से भूमि में कार्बनिक पदार्थों तथा नाइट्रोजन की मात्रा में वृद्धि होती है, इससे भूमि की जलधारण क्षमता बढ़ती है; इसके उपयोग से भूमि में वायु का आवागमन अच्छा होने लगता है; इससे भूमि में उपस्थित सूक्ष्म जीवों को अच्छा भोजन मिलता है; क्योंकि ये फसलें जल्दी उगती हैं अतः ये अनुपयोगी खरपतवारों को पनपने नहीं देतीं; ये भूमि का तापमान ठीक रखती हैं; इनसे भूमि की संरचना सुधरती है; तथा ये भूमि की निचली परत से पोषक तत्वों का शोषण करके उसे भूमि की ऊपरी परत पर छोड़ती हैं जिन्हें औषधीय पौधे आसानी से ग्रहण कर लेते हैं।

ब. हरी खाद के लिए प्रयुक्त की जाने वाली फसलों में वांछित विशेषताएं

हरी खाद बनाने के लिए चुनी जाने वाली फसल में वांछित प्रमुख विशेषताएं निम्नानुसार हैं–

1. फसल फलीदार होनी चाहिए। फलीदार फसलों में ग्रन्थियां होती हैं जो वायुमंडलीय नाइट्रोजन का भूमि में स्थिरीकरण करती हैं।

2. हरी खाद हेतु प्रयुक्त की जाने वाली फसल का बीज सस्ता होना चाहिए।

3. प्रयुक्त की जाने वाली फसल को कम उपजाऊ भूमि में उगाया जा सकना होना संभव चाहिए तथा इसे कम पानी की आवश्यकता होनी चाहिए।

4. फसल शीघ्रता से बढ़ने वाली होनी चाहिए तथा इस पर काफी अधिक मात्रा में पत्तियां (बायोमास) अनी चाहिए ताकि इनसे भूमि को काफी अधिक मात्रा में कार्बनिक पदार्थ प्राप्त हों।

5. यथा संभव फसल ऐसी हो जिसकी जड़ें जमीन में ज्यादा गहरी जायें जिससे मिट्टी भुरभुरी बन सके जो पोषक तत्वों को ज़मीन की निचली

सतह से निकाल कर ऊपरी सतह पर ला सकें।

स. हरी खाद के लिए उपयुक्त फसलें

हरी खाद बनाने के लिए जो फसलें सर्वाधिक उपयुक्त पाई गई हैं, वे हैं– सनई, ढैंचा, ग्वार, लोबिया/चवला, मूंग, उड़द नील वरसीम, सेंजी आदि। प्रायः इन फसलों से निम्नानुसार हरा पदार्थ (बायोमास) तथा नत्रजन की प्राप्ति होती है–

फसल का	उगाने का समय एकड़)	औसतन उपज (क्वं/प्रति	नाइट्रोजन का प्रतिशत (प्रति एकड़)	मिलने वाली की मात्रा नाइट्रोजन नाम
सनई	खरीफ	76	0.43%	32–35 कि.ग्रा
ढेंचा	खरीफ	72	0.42%	30–32 कि.ग्रा
उड़द	खरीफ	43.2	0.41%	17–18 कि.ग्रा
मूंग	खरीफ	28.8	0.53%	15–18 कि.ग्रा
ग्वार	खरीफ	72	0.34%	22–25 कि.ग्रा
लोबिया	खरीफ	54	0.49%	22–25 कि.ग्रा
जंगली नील	खरीफ	36	0.78%	25–32 कि.ग्रा
मसूर	रबी	19.6	0.70%	15 कि.ग्रा
मटर	रबी	72.4	0.38%	25–28 कि.ग्रा
सेंजी	रबी	102.8	0.51%	52–55 कि.ग्रा
बरसीम	रबी	56	0.43%	24–26 कि.ग्रा
खेसरी	रबी	44.4	0.54%	24–26 कि.ग्रा
मैथी	रबी	40	0.33%	13–15 कि.ग्रा

द. हरी खाद बनाने की विधि

सामान्यतया बिजाई के 40 से 45 दिन के उपरान्त हरी खाद की प्राप्ति के उद्देश्य से लगाई गई फसल को काटकर जमीन पर गिरा करके पाटा चला दिया जाता है इस समय इस फसल की डालियां तथा तना मुलायम रहता है तथा इसमें अधिकतम मात्रा में पत्तियां रहती हैं। पाटा लगा देने के उपरान्त खेत में विपरीत दिशा में हल चलाकर जुताई कर दी जाती है जिससे यह फसल छोटे छोटे टुकड़े होकर मिट्टी में मिल जाती है।

पुनः एक–दो बार हैरो चलाकर यह फसल खेत में अच्छी प्रकार मिला दी जाती है। तथा 25–30 दिन में यह हरी खाद सड़ कर मिट्टी में अच्छी प्रकार मिल जाती है। जो भी आगामी फसल लगानी हो वह हरी खाद हेतु लगाई गई फसल को पलटने के 25–30 दिन के उपरान्त ही लगाई जानी चाहिए।

2.3.2 गोबर से खाद बनाने की पद्धतियां

गोबर से खाद बनाने की कई पद्धतियां प्रचलन में हैं जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय है– इन्दौर पद्धति, बंगलौर पद्धति, श्री पुरुषोत्तम राव पद्धति, श्री प्रदीप तापस पद्धति, तथा नाडेप पद्धति। इनमें से सर्वाधिक लोकप्रिय तथा उपयोगी पद्धति ''नाडेप पद्धति'' के प्रमुख विवरण निम्नानुसार हैं–

2. खाद बनाने की नाडेप पद्धति

कम से कम मात्रा में गोबर का उपयोग करके अधिकाधिक मात्रा में खाद बनाने हेतु नाडेप पद्धति एक उत्तम पद्धति है। इस पद्धति में मात्र एक गाय के वार्षिक गोबर से 80 से 100 टन (लगभग 150 बैलगाड़ी) खाद प्राप्त होता है जिसमें 0.5 से 1.5 प्रतिशत तक नाइट्रोजन 0.5 प्रतिशत से 0.9 प्रतिशत तक फासफोरस तथा 1.2 से 1.4 प्रतिशत तक पोटाश रहता है।

नाडेप विधि द्वारा भरे गये टांके

नाडेप कम्पोस्ट पद्धति के जन्मदाता महाराष्ट्र राज्य के यवतमाल जिले के कृषक श्री नारायण देवराव पंडरीपांडे हैं जिनके नाम के प्रथम अक्षरों को लेकर इस पद्धति को 'नाडेप'' का नाम दिया गया है। इस पद्धति में सर्वप्रथम जमीन के ऊपर ईंट का एक आयताकार कमरेनुमा बना लिया जाता है जिसकी दीवारें 9 इंच चौड़ी होती हैं। इस टांके का फर्श ईंट, पत्थर के टुकड़े डालकर पक्का कर दिया जाताहै। इस टांके के अंदर की लम्बाई 12 फीट, चौड़ाई 5 फीट तथा ऊँचाई 3 फीट अथवा 10×5×3 (कुल आयतन 180 घन फीट) रखा जाता है। ईंटों की जुड़ाई यूं तो मिट्टी से भी की जा सकती है परन्तु आखिरी रद्दा सीमेन्ट का होना चाहिए ताकि टांका गिरने का डर नहीं रहे। टांका हवादार होना चाहिए। क्योंकि खाद सामग्री को पकने के लिए कुछ भाग में हवा आवश्यक होती है इसीलिए टांका बांधते समय चारों ओर की दीवारों में छेद रखे जाते है। इसके लिए ईंटों के हर दो रद्दों की जुड़ाई करते समय एक ईंट जुड़ाई के बाद 7 इंच का छेद छोड़कर जुडाई करें। छेद इस प्रकार बनाए जाने चाहिए कि पहली लाइन के दो छेदों के मध्य दूसरी लाईन के छेद आएं तथा दूसरी लाइन के छेदों के मध्य में तीसरी लाइन के छेद आएं इस प्रकार तीसरे, छठे एवं नवें रद्दे में छेद बनेंगे। छेदों की संख्या बढ़ाने से खाद जल्दी पक सकती है परन्तु इस स्थिति में पानी की मात्रा अधिक लगेगी। इस टांके के अंदर की दीवारों तथा फर्श को गोबर मिट्टी से लीप दिया जाना चाहिए।

अ. नाडेप कम्पोस्ट बनाने हेतु आवश्यक सामग्री

नाडेप कम्पोस्ट बनाने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली प्रमुख सामग्री निम्नानुसार होगी–

क. गोबर : एक 180 वर्ग फीट का टांका भरने हेतु 8 से 10 टोकरी (लगभग 100 किग्रा) गोबर की आवश्यकता होगी। इस कार्य हेतु गोबर गैस संयंत्र से निकली स्लरी का उपयोग भी किया जा सकता है ऐसी स्थिति में स्लरी की मात्रा साधारण गोबर से दुगुनी करनी होगी।

ख. वनस्पतिक व्यर्थ पदार्थ : टांका भरने हेतु विभिन्न वनस्पतिक व्यर्थ पदार्थों जैसे सूखे पत्ते, छिलके, डंठल, मुलायम टहनियां, गोमूत्र से सनी बिछावन अथवा जड़ों का भी उपयोग किया जा सकता है। इनकी मात्रा प्रति टांका लगभग 1400 कि.ग्रा. होगी। इस पदार्थ में कांच, पत्थर अथवा प्लास्टिक आदि नहीं होना चाहिए।

ग. सूखी छनी मिट्टी : इसके लिए खेत अथवा नाले आदि की छनी हुई मिट्टी लें। इस मिट्टी की मात्रा लगभग 1500–1600 कि.ग्रा. (120 टोकरियां) होनी चाहिए। यह मिट्टी यदि गौमूत्र से सनी हुई हो तो ज्यादा प्रभावी तथा उपयोगी होगी।

घ. पानी : एक टांके के लिए लगभग 1500 से 2000 लीटर पानी (सूखे वनस्पतिक पदार्थ के वजन के बराबर + 25 प्रतिशत वाष्पीकरण के लिए पानी) की आवश्यकता होगी। पानी की मात्रा ऋतु के मान से कम या अधिक हो सकती है, उदाहरणतया वर्षा ऋतु में कम पानी की आवश्यकता होगी जबकि ग्रीष्म ऋतु में ज्यादा पानी लगेगा। यदि गौमूत्र अथवा अन्य पशुओं का मूत्र अथवा उससे युक्त मिट्टी उपलब्ध हो जाए तो उसका उपयोग करने से खाद की गुणवत्ता और अधिक बढ़ेगी।

ब. टांका भरने की विधि

उपरोक्त समस्त पदार्थ तैयार हो जाने पर एक ही दिन में (अधिकतम 48 घंटों में) टांका भरना आवश्यक होता है। टांका भरने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया अनिवार्यतः निम्नानुसार होनी चाहिए, तथा इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए–

1. सर्वप्रथम टांके के अंदर की दीवार एवं फर्श पर गोबर–पानी का घोल छिड़ककर इसे अच्छी प्रकार गीला कर लें।

2. टांके के तल में छः इंच की ऊंचाई तक वनस्पतिक पदार्थ भर दें। इस 30 घनफीट के क्षेत्र में लगभग 100–110 कि.ग्रा. पदार्थ आएगा। इस वनस्पतिक पदार्थ के साथ कड़वा नीम अथवा पलाश की पत्ती मिला दी जाए तो यह दीमक को भी नियन्त्रित करेगा।

3. वनस्पतिक पदार्थ की परत पर साफ, सूखी तथा छनी हुई 50 से 60 कि.ग्रा. मिट्टी समतल बिछा दें तथा तदुपरान्त इस पर थोड़ा पानी छींट दें।

4. वनस्पतिक पदार्थ भर लेने के उपरान्त 4 कि.ग्रा. गोबर 125–150 लीटर पानी में घोल कर वनस्पतिक पदार्थ के ऊपर इस प्रकार छिड़क दें कि यह पूरा पदार्थ इस घोल में भंग जाए। गर्मी के मौसम में पानी की मात्रा

अधिक रखनी होगी। गोबर की जगह गोबर गैस प्लांट से निकली स्लरी भी प्रयुक्त की जा सकती है परन्तु उस स्थिति में पानी की मात्रा मात्र दो से ढाई गुने (10 लीटर) ही रखें।

5. इसी क्रम में (वनस्पतिक पदार्थ, गोबर तथा मिट्टी के क्रम में) टांके को भरते जाएं। टांके को उसके मुंह के 1.5 फीट की ऊचाई तक झोपड़ीनुमा आकार में भरा जा सकता है। प्रायः 11–12 तहों में यह टांका भर जाएगा।

6. टांका भर जाने पर उसे सील कर दें। इसके लिए भरी हुई सामग्री के ऊपर 3 इंच की मिट्टी की तह जमा करके उसे गोबर के मिश्रण से लीप दें। यदि इसमें दरारें पड़ें तो उन्हें पुनः लीप दें।

7. 15–20 दिन में उपरोक्त भरी हुई खाद सामग्री सिकुड़ने लगती है तथा सिकुड़ कर यह टांके के मुंह से 8–9 इंच अंदर (नीचे) आ जाती है। तदुपरान्त पूर्व की तरह लगाई गई परतों–वनस्पतिक पदार्थ, गोबर घोल तथा छनी हुई मिट्टी की परतों से 1.5 फीट की ऊँचाई तक टांके को भर कर लीप कर सील कर दिया जाता है।

जैविक खादों का भूमि के पोषक तत्वों की उपलब्धता तथा फसलों की उपज पर प्रभाव

उपचार	जैविक कार्बन (ग्रा./प्रति (किग्रा.)	उपलब्ध फास्फोरस (मि.ग्रा./किग्रा.)	उपलब्ध पोटाश (मि.ग्रा./किग्रा.)	उपज (टन/एकड़)	
				गेहूं	चावल
नियन्त्रित	3.65	10.05	42	1.68	1.7
यूरिया (60 कि.ग्रा. एकड़)	3.70	8.45	45	5	1.72
हरी खाद+यूरिया	3.95	9.60	40	4.96	1.76
गोबर की खाद+ यूरिया	4.35	17.00	50	4.52	1.82
हरी खाद+ गोबर की खाद	5.05	16.05	60	5.44	1.88

नाडेप पद्धति से खाद तैयार होने में लगभग 4 माह का समय लगता है। इस पूरे समय में खाद में आर्द्रता बनी रहनी चाहिए तथा इसमें आने वाली दरारों को बन्द करने

के लिए समय–समय पर इस पर पानी का छिड़काव करते रहना चाहिए। खाद सूखना नहीं चाहिए तथा इसमें 15 से 20 प्रतिशत तक नमी बनी रहनी चाहिए। चार माह की परिपक्वता प्राप्त हो जाने पर खाद गहरे भूरे रंग की बन जाती है तथा इसमें दुर्गन्ध समाप्त होकर अच्छी खुश्बू आने लगती है। इस खाद को मोटी छलनी से खड़ा करके छान लिया जाना चाहिए तथा छना हुआ नाडेप ही उपयोग में लाया जाना चाहिए। छलनी के ऊपर जो अधपका पदार्थ रह जाए उसे आगे के लिए कम्पोस्ट बनाने समय वनस्पतिक पदार्थ के साथ प्रयुक्त कर लिया जाना चाहिए। प्रायः एक टांके से 160 से 175 घन फीट अच्छा पका हुआ (छना हुआ।) खाद प्राप्त हो जाता है जबकि 40 से 45 घन फीट के टांके से अनुमानतः 3 टन अच्छा पका हुआ खाद प्राप्त होता है।

नाडेप कम्पोस्ट को और अधिक प्रभावी बनाने हेतु उपाय

नाडेप कम्पोस्ट की गुणवत्ता बढ़ाने हेतु टांका भरने के 80–95 दिन के उपरान्त टांके में ऊपर से सब्बल से 15–20 छेद करके उनमें राइजोबियम, पी.एस.बी. तथा एजेटोबेक्टर की एक–एक कि.ग्रा. मात्रा पानी में घोल कर छिद्रों में डालें। इससे कम्पोस्ट की गुणवत्ता और भी अधिक बढ़ जाएगी। एजेटोबेक्टर एवं राइजोबियम के उपयोग से खाद में नाइट्रोजन स्थिरीकरण भी अधिक होगा और इससे नाइट्रोजन के स्थिरीकरण में भी सहायता मिलेगी। इसी प्रकार टांका भरते समय प्रति टन 50 कि.ग्रा. राक फॉस्फेट

पूर्णतया तैयार वर्मी कम्पोस्ट

(प्रति टांका 150 कि.ग्रा.) का उपयोग भी किया जा सकता है। इससे पी.एस.एम. जीवाणु से रॉक फॉस्फेट को घुलनशील बनाकर खाद में स्फुर का प्रतिशत बढ़ाया जा सकता है।

2.3.3 वर्मीकम्पोस्ट अथवा केंचुआ खाद

खाद बनाने की विभिन्न विधियों में से सर्वाधिक उपयोगी विधि है वर्मी कम्पोस्टिंग। वस्तुतः वर्मीकम्पोस्टिंग वह विधि है जिसमें कूड़ा कचरा तथा गोबर को केंचुओं तथा सूक्ष्म जीवों की सहायता से उपजाऊ खाद अथवा ''वर्मीकास्ट'' में बदला जाता है यही वर्मी कम्पोस्ट अथवा केंचुआ खाद कहलाती है।

अ. वर्मी कम्पोस्ट के लाभ

वर्मी कम्पोस्ट अन्य खादों की अपेक्षा कई दृष्टियों से ज्यादा लाभकारी है। अन्य खादों जैसे गोबर की खाद कम्पोस्ट खाद की तुलना में वर्मी कम्पोसट की प्रमुख विशेषताएं निम्नानुसार हैं–

क्र	विवरण	गोबर की खाद	कम्पोस्ट खाद	वर्मीकम्पोस्ट
1.	तैयार होने में लगने वाली अवधि	6 माह	4 माह	2 माह
2.	पोषक तत्वों की मात्रा :			
	नाइट्रोजन	0.3 से 0.5%	0.5 से 1%	1.2 से 1.6%
	फास्फोरस	0.4 से 0.6%	0.5 से 0.9%	1.5 से 1.8%
	पोटाश	0.4 से 0.5%	1%	1.2 से 2%
3.	लाभदायक जीवों की संख्या	बहुत कम मात्रा में	कम मात्रा में	काफी अधिक मात्रा में
4.	प्रति एकड़ आवश्यकता :			
	सामान्य फसलें	4 टन	4 टन	1.5 टन
	औषधीय पौध	8 टन	8 टन	3 टन
5	खरपतवार नियन्त्रण पर खर्च	काफी अधिक खर्च होता है	अपेक्षाकृत कम खर्च होता है	खरपतवार नियंत्रण पर खर्च बिल्कुल नहीं

तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि अन्य पद्धतियों से बनाई गई खादों की तुलना में वर्मीकम्पोस्ट ज्यादा उपयुक्त है। इसमें न केवल फसल के लिए आवश्यक पोषक तत्व ज्यादा मात्रा में उपलब्ध है बल्कि दूसरी खादों की तुलना में इसकी कम मात्रा से ही काम चल जाता है। उदाहरणार्थ यदि 20 क्विंटल वर्मीकम्पोस्ट प्रति एकड़ किसी खेत में डालते हैं तो उससे लगभग 50 किलो नाइट्रोजन (2 बोरी यूरिया के बराबर), 30 कि.ग्रा. फास्फोरस (सिंगल सुपर फास्फेट की चार बोरी के बराबर) तथा 30 किलो पोटाश (एक बोरी म्यूरेट ऑफ

पोटाश के बराबर) प्राप्त हो जाती है।

2. वर्मी कम्पोस्ट में कई प्रकार के एन्जाइम तथा हार्मोन्स जैसे ऑक्सीन, जिब्रालिन साईटोकाइनिन आदि भी पाए जाते हैं। ये एन्जाइम अन्य जैविक खादों में प्रायः नहीं पाए जाते तथा बाजार में जिन रासायनिक रूपों में ये मिलते हैं वे बहुत महंगे होते हैं।

3. वर्मी कम्पोस्ट के इस्तेमाल से भूमि में स्फुर घोलक जीवाणुओं, तथा नाईट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले जीवाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है तथा इसके साथ ही इनके उपयोग से भूमि का अम्लीय एवं क्षारीय प्रभाव भी सुधरता है।

4. वर्मी कम्पोस्ट के इस्तेमाल से जमीन में सिंचाई की भी अपेक्षाकृत कम आवश्यकता पड़ती है।

5. वर्मीकम्पोस्ट खेत में डालते समय उसके साथ केंचुए भी जमीन में जाते हैं जो भोजन की प्राप्ति, मल विसर्जन एवं प्राण वायु पाप्त करने के लिए दिन भर में 7 से 10 बार ऊपर–नीचे आते–जाते हैं। इस प्रक्रिया में जमीन में स्वतः ही 14 से 20 छिद्र बन जाते हैं जिससे जमीन पोली होने के साथ–साथ इसमें वायु की आवाजाही होना आसान हो जाती है। तथा उसकी जलधारण क्षमता में भी वृद्धि होती है।

6. केंचुओं का शरीर 85 प्रतिशत पानी से बना रहता है इसलिए सूखे की स्थिति में 60 प्रतिशत पानी की कमी हो जाने पर भी ये जीवित रहते हैं एवं मर कर भी ये जमीन में पौधों के लिए भोजन छोड़ जाते हैं।

7. केंचुए हानिकारक जीवाणुओं को खाकर लाभप्रद ह्यूमस में परिवर्तित कर देते हैं।

8. केंचुओं की विष्ठा (कास्टिंग) में पेराटापिक झिल्ली होती है जो ध ूलकणों से चिपककर वाष्पीकरण की प्रक्रिया को रोकती है।

9. परम्परागत गोबर खाद के कई बार कच्ची रह जाने के कारण फसल को दीमक अथवा गोबर की सुण्डी आदि से हानि हो सकती है परन्तु क्योंकि केचुआ खाद पूर्णतया पकी हुई होती है अतः इसके उपयोग से फसल में किसी प्रकार के गोबर के कीड़े अथवा दीमक आदि के लगने की संभावनाएं नहीं रहतीं।

ब. वर्मीकम्पोस्ट बनाने की विधि

वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए मुख्यतया चार संसाधनों की आवश्यकता होगी– (अ) उपयुक्त प्रजाति के केंचुए, (ब) गोबर एवं कार्बनिक अवशेष, (स) पानी (द) बांस बल्ली तथा (इ) उपयुक्त स्थान एवं अन्य व्यवस्थाएं। इन संसाधनों की विशिष्टयाँ निम्नानुसार होना वांछित है–

क. उपयुक्त प्रजाति के केंचुए– केंचुएं मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं– एन्डोजीइक या नाइट कालर्स तथा ईपीजीइक या सरफेस फीडर्स। इनमें से एन्डोजीइक (नाईट कालर्स) जमीन के अंदर रहते हैं। ये 8 से 10 इंच लंबे होते हैं, इनका वज़न लगभग 5 ग्राम तक होता है तथा ये 90 प्रतिशत मिट्टी एवं 10 कार्बनिक पदार्थ खाते हैं। अधिकांशतः हमारे आसपास यही केंचुए पाए जाते हैं तथा बहुधा ये वर्षाऋतु में दिखाई देते हैं। ये केंचुए वर्मीकम्पोस्ट बनाने में काम नहीं आते। केंचुओं की दूसरी किस्म ईपीजीइक या सरफेस फीडर्स कहलाती है। ये अपेक्षाकृत कम लम्बाई के होते हैं तथा इनका वजन लगभग 0.5 से 1 ग्राम तक होता है। इनका रंग लालिमा लिए हुए बैंगनी होता है। ये वनस्पतिक अवशेष तथा गोबर खाते हैं, ये मिट्टी पसंद नहीं करते। वर्मीकम्पोस्ट बनाने हेतु यही उपयुक्त होते हैं। इनमें से वर्मीकम्पोस्ट बनाने हेतु सर्वाधिक उपयुक्त प्रजाति ''आइसिनिया फेटिडा'' है। ये केंचुए टाइगर केंचुए अथवा ब्राण्डलीग केंचुए के नाम से भी जाने जाते हैं। इनका शरीरा लम्बा, पतला, गोल तथा दोनों सिरों पर नुकीला होता है। तथा यह 100 से 122 खण्डों में विभाजित होता है। इस प्रजाति के केंचुए प्रकाश, तीव्र तापक्रम तथा गैसीय द्रव्यों जैसे एसिटिक एसिड आदि के प्रति काफी संवेदनशील होते हैं। इनकी सक्रियता के लिए मध्यम तापक्रम तथा आर्द्रता ज्यादा अनुकूल रहती है। इनका जीवनचक्र 130 से 150 दिन का होता है तथा जन्म के छः से सात सप्ताह के बाद ये प्रजनन योग्य हो जाते हैं। ये केंचुए 6 सेल्सियस से 35 अंश सेल्सियस तक का तापक्रम सह लेते हैं।

ख. गोबर अथवा कार्बनिक अवशेष : वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए दूसरी आवश्यकता होगी– अधपका वनस्पतिक कचरा, अधपका गोबर (ताजा गोबर कदापि नहीं) या गोबर गैस से निकली स्लरी, बची हुई शाक सब्जियां, घास–फूस एवं कूड़ा कचरा, सब्जियों के छिलके, सूबबूल की पत्तियां, नीम

की पत्तियां आदि।

ग. पानी : केंचुओं के संवर्धन तथा उन्हें जिन्दा बनाए रखने के लिए नमी बनाई रखी जाना आवश्यक होती है जिसके लिए पानी की आवश्यकता होगी। एक 3×15 फीट के गड्ढे के लिए प्रति दिन लगभग 15 से 45 लीटर पानी की आवश्यकता होती है।

घ. औज़ार : वर्मीकम्पोस्टिंग की इकाई स्थापित करने के लिए किन्हीं सामान्य औज़ारों की भी आवश्यकता होगी जैसे फावड़ा, परात, टोकरी, झारा, प्लास्टिक पाइप, छानने हेतु छलना, कचरे अथवा पत्तों अथवा मुलायम टहनियों को छोटे–छोटे टुकड़ों में काटने के लिए कुट्टी मशीन, हाथ ट्राली आदि।

च. उपयुक्त स्थान : केंचओं के संवर्धन हेतु ऐसे उपयुक्त स्थान की आवश्यकता होगी जिसमें उपयुक्त नमी तथा उपयुक्त तापमान स्थिर रखा जा सके, अतः इसके लिए एक टापरी अथवा शेड अथवा अस्थाई छाया तैयार करनी उपयुक्त होती है। इस प्रकार की टापरी स्थानीय रूप से उपलब्ध घास–फूस तथा बांस–बल्ली की सहायता से बनाई जा सकती है। ऐसा छप्पर अथवा टापरी 5 फीट चौड़ा तथा 20 फीट लम्बा होना चाहिए तथा यह इतना ऊंचा होना चाहिए कि इसमें घुस कर पानी दिया जा सके।

स. वर्मीकम्पोस्ट उत्पादन की प्रक्रिया

वर्मीकम्पोस्ट बनाने की प्रक्रिया निम्नानुसार होगी–

1. सर्वप्रथम उपयुक्त स्थान (छप्पर आदि) बना लेने के उपरान्त इसके नीचे 3 फीट चौड़ा, एक फीट गहरा तथा 15 फीट लम्बा गड्ढा बनाएं।

2. इस गड्ढे के तल को कंकर पत्थर या ईंट के टुकड़े आदि डालकर इसे अच्छी प्रकार मजबूत कर लें। (इसे पक्का करने की आवश्यकता नहीं है) ताकि केंचुए जमीन में नीचे न जा सकें। एक छप्पर अथवा शेड के अंदर बनाए जाने वाले गड्ढों की संख्या तो एक से अधिक हो सकती है परन्तु प्रत्येक गड्ढे के बीच कम से कम एक फीट की दूरी रखी जानी चाहिए।

3. प्रत्येक गड्ढे में अधपके नमीयुक्त वनस्पतिक कचरे की छः इंच की समान रूप की तह लगा दें। यदि कचरा अधपका न हो तो उसमें पहले थोड़ा गोबर मिलाकर उस पर 15 दिनों तक अच्छी प्रकार पानी डालें ताकि इसके सड़ने पर बनने वाली गर्मी को समाप्त किया जा सके।

4. इस छः इंच ऊँचे वनस्पतिक कचरे की तह पर लगभग छः इंच पका हुआ गोबर समान रूप से फैलाएं।

5. इस गोबर की तह पर 100 केंचुए प्रति वर्गफीट के मान से डाल दें। उदाहरणार्थ 3×15 फीट (45 वर्गफीट) के बेड पर 4500 केंचुओं की आवश्यकता होगी।

6. इस तह के ऊपर 1 फीट ऊँची वनस्पतिक कचरे की तह समान रूप से फैला दें। यह वनस्पतिक कचरा जितना बारीक तथा अधसड़ा होगा, केचुओं के लिए यह उतना ही उपयुक्त आहार होगा।

7. अब इस ढेर को, जो कि डोम के आकार का होगा, जूट के बोरों से ढंक दें तथा इस पर नियमित रूप से (ठंड के मौसम में दिन में एक बार तथा गर्मी के मौसम में दिन दो बार) पानी का छिड़काव करते रहें ताकि गड्ढे में नमी बनी रहे तथा कचरा नर्म रहे जिसे केंचुएं आसानी से खा सकें।

8. गड्ढे में डाले गए समस्त वनस्पतिक कचरे एवं गोबर को लगभग 30–35 दिन में हाथों से अथवा पंजे की सहायता से (फावड़ा अथवा गेती का इस्तेमाल किए बिना) धीरे–धीरे पलटते रहे। इससे गोबर से निकलने वाली गैस भी बाहर निकल जाएगी, वायु का संचार भी ठीक होगा तथा गोबर का तापमान भी ठीक रहेगा।

9. ढेर सदा केले के पत्तों अथवा बोरियों से ढंका रहना चाहिए तथा शेड में सदा अंधेरा बना रहना चाहिए क्योंकि अंधेरे में केंचुए ज्यादा क्रियाशील रहते हैं।

10. उपरोक्त क्रियाएं विधिवत कर लेने पर जब 50–60 दिनों के उपरान्त ढेर पर से जूट के बोरे हटाए जाते हैं तो ढेर में चाय की पत्ती के समान केंचुओं द्वारा विसर्जित कास्टिंग की ढेरियां दिखाई देंगी। यदि केंचुए पर्याप्त संख्या में डाले गए होंगे (अथवा जीवित बने होंगे) तो सारा कचरा कास्टिंग के रूप में परिवर्तित हो चुका होगा।

11. अब 10–15 दिनों तक पानी का छिड़काव बंद कर दें तथा तैयार वर्मी कम्पोस्ट को बैड से बाहर निकालकर पौलीथीन शीट पर ढेर लगा दें। दो–तीन घंटे के उपरान्त केंचुए पौलीथीन के फर्श पर नीचे चले जायेंगे। इस

स्थिति में वर्मी कम्पोस्ट को अलग करके नीचे इकट्ठे हुए केंचुओं को आगे वर्मी–कम्पोस्ट खाद बनाने के काम में लिया जा सकता है। यदि ऐसा न करना हो तो जितनी भी वर्मी कम्पोस्ट तैयार हो जाए उसे निकालते रहें। आखिर में थोड़ी सी खाद की मात्रा तथा कुछ केंचुए बच जाते हैं। इसी बैड के पास नई बैड लगा दी जाती है तथा जैसे ही केंचुओं को उपयुक्त वातावरण मिलता है, वे अपने आप ही नई बैड में आ जाते हैं। इस विधि से मात्र 60–70 दिन में 3×1×10 फीट की एक बैड से लगभग 6 से 10 क्विंटल अच्छी प्रकार पकी हुई वर्मीकम्पोस्ट तैयार हो जाती है तथा इसमें डाले गए 3000 केंचुए बढ़कर लगभग 9000 तक हो जाते हैं।

द. वर्मीकम्पोस्ट बनाते समय रखी जाने वाली प्रमुख सावधानियां

1. वर्मी कम्पोस्ट के निर्माण के लिए गाय का गोबर सर्वोतम होता है परन्तु कभी भी आंकड़ा के पत्ते तथा धतूरे के पत्ते इस मिश्रण में नहीं डालने चाहिए क्योंकि आंकड़े तथा धतूरे के पत्ते केंचुओं के लिए जहरीले होते हैं।

2. वर्मीकम्पोस्ट का बैड छायादार जगह पर ही बनाया जाना चाहिए तथा इसे जमीन से ऊंचा रखा जाना चाहिए अन्यथा बरसात में इसमें से केंचुए बहकर बाहर जा सकते हैं।

3. वर्मीकम्पोस्ट के बैड पर अंधेरा बनाए रखना चाहिए क्योंकि अंधेरे में केंचुए ज्यादा क्रियाशील होते हैं।

4. सड़े–गले कार्बनिक पदार्थ व गोबर को अच्छी प्रकार मिलाना चाहिए ताकि कार्बन–नाइट्रोजन का अनुपात संतुलित रहे।

5. कभी भी ताजा गोबर इस्तेमाल नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें से निकलने वाली गर्मी (गैस) से केंचुए मर सकते हैं। इस प्रकार गोबर 10 से 15 दिन पुराना होना चाहिए।

6. वर्मीकम्पोस्ट बैड का तापमान 25 से 30^0 सेल्शियस बनाए रखना चाहिए तथा इसमें 30 से 35 प्रतिशत तक नमी रहनी चाहिए। ऐसा बेड में से वर्मीकम्पोस्ट पदार्थ को मुट्ठी में लेकर उसको लड्डू बनाकर देखने से किया जा सकता है। सही स्थिति में लड्डू बन जाना चाहिए परन्तु हाथ गीला नहीं होना चाहिए।

7. कठोर टहनियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए तथा खरपतवार

अवशेषों को भी फूल आने से पूर्व ही काम में ले लेना चाहिए।

8. खरपतवार तथा कूड़े कचरे में प्लास्टिक, कांच तथा पत्थर आदि नहीं होने चाहिए।

9. वर्मीकम्पोस्ट बेड को तैयार कर लेने के 5–6 दिन बाद ही केंचुए छोड़े जाने चाहिये क्योंकि तब तक बेड का तापमान उपयुक्त हो जाता है। इसी प्रकार माह में कम से कम एक बार बेड में पंजा चलाते रहना चाहिए। जिससे बेड में वायु का संचार होता रहे। केंचुओं को उनकी बढ़त के लिए उपयुक्त वातावरण मिलता रहे।

10. केंचुओं को पालने के लिए बनाए जाने वाले गड्ढों के तले पक्के नहीं करने चाहिये क्योंकि यदि छिड़काव के दौरान गड्ढे में पानी अधिक हो गया तो गड्ढा पक्का होने के कारण पानी रिसेगा नहीं जिससे केंचुए मर सकते हैं। अतः गड्ढे के तले को सख्त तो बनाएं, पक्का नहीं। यदि पक्का बनावें तो प्रति फीट फर्श का ढलाव कम से कम दो इंच रखें जिससे पानी निकाल कर नीचे आ जाएगा जोकि वर्मीवाश के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है।

11. जूट के थैलों से वर्मीकम्पोस्ट के गड्ढे अनिवार्यतः ढंक कर रखें जिससे गड्ढे की नमी सुरक्षित रहे।

12. गड्ढों को चीटियों, मकोड़ों, मुर्गियों, कौओं तथा पक्षियों आदि से सुरक्षित रखें।

13. गड्ढों की लंबाई तो सुविधा-नुसार कुछ हो सकती है परन्तु इनकी चौड़ाई तीन फीट से ज्यादा नहीं होनी चाहिए अन्यथा कार्य करने में असुविधा होगी।

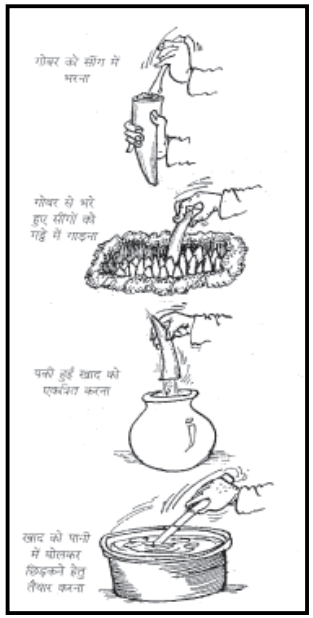

विभिन्न जैविक खादों में पाई जाने वाली पोषक तत्वों की मात्रा

खाद का नाम	मुख्य पोषक तत्वों का प्रतिशत		
	नाईट्रोजन	फास्फोरस	पोटाश
गोबर की खाद	0.6 से 0.8	0.2 से 0.3	0.8 से 1.0
कम्पोस्ट	1.2 से 1.5	1.00 से 1.2	1.4 से 1.6
हरी खाद	0.5 से 0.7	0.2	0.8 से 1.6
केंचुआ खाद	2.00 से 2.5	2.5 से 2.9	1.2 से 1.4
मूंगफली की खली	7.8	1.2	1.3
बायोगैस स्लरी	0.9 से 1.3	0.7	–
अरण्डी की खली	5.7	2.00	1.0
नीम की खली	5.2 से 5.5	1.00	1.4
गन्ने की खोई	2.25	0.12	–
प्रैसगड	1.0–1.5	4.00 से 5.0	2.0 से 7.0
मछली का चूरा	4.0 से 10.0	3.0 से 9.0	0.3 से 1.5
मल	1.2 से 1.5	0.8	0.5
हड्डी का चूरा (कच्चा)	3.00	20.0	

4. गोबर से बनाई जा सकने वाली शीघ्र खादें

अधिकांशतः जैविक पद्धति की आलोचना इस कारण से की जाती है कि इसमें विभिन्न खादें तथा कीटनाशक बनाने में काफी समय लग जाता है। इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से किसानों एवं वैज्ञानिकों द्वारा गोबर से शीघ्र खादें बनाने की भी कई विधियां विकसित की गई हैं, जिनमें प्रमुख हैं– (क) अमृत पानी विधि (ख) अमृत संजीवनी विधि), (ग) जीवामृत खाद विधि तथा (घा) मटका विधि। इनमें से विभिन्न खादों के निर्माण हेतु विभिन्न फार्मूले विकसित किए गए हैं, उदाहरणार्थ मटका खाद विधि में 15 कि.ग्रा. देशी गाय का ताजा गोबर, 15 लीटर ताजा गौमूत्र, तथा 15 लीटर पानी मिट्टी के घड़े में घोल लें। इस घोल में आधा कि.ग्रा. गुड़ भी मिला दें। इस घोल के मिट्टी के बर्तन को ऊपर से कपड़ा या टाट मिट्टी से पैक कर दें। 4–6 दिन में इस घोल में 200 लीटर पानी मिलाकर इस मिश्रण को एक एकड़ में समान रूप से छिड़का दें। यह छिड़काव बुआई के 15 दिन बाद किया जाना चाहिए तथा इसके 7 दिन बाद इसे पुनः अपनाया जाना चाहिए। इन शीघ्र खादों के उपयोग से खेत में करोड़ों सूक्ष्म जीवाणुओं की वृद्धि होगी तथा खेत में ह्यूमस की भी वृद्धि होगी।

2.3.4 बायोडायनामिक (जैवगतिकीय) पद्धतियां

बायोडायनामिक कृषि पद्धति का उद्देश्य जीव उत्पादक शक्तियों का युक्तियुक्त उपयोग करके स्वस्थ भूमि, स्वस्थ पौध, स्वास्थ्यप्रद और असरदार अन्न तथा पशुआहार एवं पशु उत्पाद पैदा करना है।

बायोडायनामिक पद्धति को प्रतिपादित करने का श्रेय एक आस्ट्रियन दार्शनिक रूडाल्फ स्टाइनर को जाता है जिन्होंने वर्ष 1924 में इस संदर्भ में अपने विचार रखे जोकि जैवगतिकीय नुस्खों के रूप में प्रचलित हुए। इनमें से नुस्खा क्र. 500 सींग खाद से संबंधित है तथा नुस्खा क्र. 501 सींग सिलिका चूर्ण नुस्खा है। नुस्खा क्र. 502 से 507 कम्पोस्ट नुस्खे हैं जबकि नुस्खा क्रम 508 फफूंदरोधी नुस्खा है। इनमें से सर्वाधिक महत्व नुस्खा क्र. 500 को मिला है तथा इस पर आधारित खाद ''सींग खाद'' के नाम से जानी जाने लगी है।

सींग खाद के निर्माण की विधि

सींग खाद बनाने के लिए मुख्यतया दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है– मृत गाय के सींग का खोल तथा दूध देती गाय का गोबर। यह सभी जानते हैं कि भारतीय संस्कृति में गाय का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है तथा गाय का गोबर नक्षत्रीय एवं आकाशीय प्रभावों से युक्त होता है। नक्षत्रीय प्रभाव नाईट्रोजन बढ़ाने वाली ताकतों से युक्त होता है तथा आकाशीय प्रभाव आक्सीजन बढ़ाने वाली ताकतों से युक्त है। इन्हीं शक्तियों के प्रभाव से गोबर का भूमि पर जीवनदायी असर होता है। गोबर में जीवों को आकर्षित करने की ताकत होती है तथा गाय के चार पेट वाले पाचन संस्थान का इसमें बहुत योग होता है। गाय के सींग नक्षत्रीय ताकतों को ग्रहण करके उन्हें पाचन संस्थान तक पहुंचाते हैं। गाय के सींग के खोल गोबर का असर बढ़ाने के लिए उत्तम पात्र होते हैं। जीवाणुओं की जांच के अनुसार सींग में उपस्थित गोबर बनाने वाले जीवाणु कम होकर ह्यमस बनाने वाले जीवाणुओं की संख्या अधिक हो जाती है जबकि गोबर को किसी अन्य पात्र में रखकर गाड़ा जाए तो उसका वह प्रभाव नहीं होता।

अ. सीग खाद बनाने के लिए प्रमुख आवश्यकताएं

सींग खाद बनाने के लिए प्रमुख आवश्यकता होगी– (क) ऐसी मृत

गाय के सींग जो कम से कम एक–दो बार ब्याही हुई हो; (ख) सीग पर रंग न हो तथा इसमें दरारें न हों; तथा (ग) दुधारू गाय का गोबर। यह गोबर ऐसी गाय का ही होना चाहिए जो स्वस्थ हों तथा गोबर प्राप्त करने से 15 दिन पूर्व तक इस गाय को कोई औषधि न दी गई हो। सींग के खोल में भरने के लिए सदा ताजा गोबर ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

ब. सींग खोल गाड़ने के लिए गड्ढा

सींग खोल गाड़ने के लिए अच्छी उपजाऊ जमीन में गड्ढा बना लिया जाना चाहिए। सींग गाड़ने के लिए एक से सवा फीट गहरा गड्ढा किसी ऐसी जगह पर खोद लिया जाना चाहिए जहां जल भराव न होता हो। गड्ढे की लंबाई–चौड़ाई उतनी होनी चाहिए जितनी मात्रा में इसमें सींग रखे जाने प्रस्तावित हों।

स. सींग खाद बनाने का उपयुक्त समय

सींग खाद बनाने का सर्वाधिक उपयुक्त समय अक्टूबर का महीना होगा। भारतीय पंचांग के अनुसार कुंवार महीने की नवरात्रि में या शरदपूर्णिमा तक का समय सींग खाद बनाने के लिए सर्वाधिक उत्तम होता है। इस समय सींग खाद में चन्द्रमा की शक्तियों को काम करने का समय मिलता है। ठण्ड के दिनों में दिन छोटे होते हैं तथा सूर्य की गरमी भी कम होती है अतः चन्द्रमा की शक्तियों को अपना असर बढ़ाने के लिए काफी समय मिलता है। बायोडायनामिक पंचांग के अनुसार अक्टूबर माह में जब चन्द्रमा दक्षिणायन हो तो सींग खाद बनाया जाना चाहिए। अतः इस समय दूध दे रही गाय का गोबर नर्म करके सींग में अच्छी प्रकार से भरकर गड्ढों में गाड़ दिया जाना चाहिए। सींग इस प्रकार गाड़े जाने चाहिए कि उनका नुकीला सिरा ऊपर रहे।

गोबर से भरे सींग के खोलों को सामान्यतया छः माह तक गड्ढे में रखा जाता है। चैत्र नवरात्रि में या मार्च–अप्रैल महीने में जब चन्द्रमा दक्षिणायन हो तो सींगों को जमीन से निकाल करके उनके ऊपर लगी मिट्टी को साफ कर लिया जाता है। तदुपरान्त एक पौलीथीन की शीट अथवा अखबार पर इन सींगों को झाड़ करके इनमें से पका हुआ गोबर (खाद) एकत्रित कर लिया जाता है।

द. खाद का भण्डारण

सींगों से खाद निकाल लिए जाने के उपरान्त मिट्टी में उसके ढेले आदि तोड़कर अथवा मसलकर एक मिट्टी के मटके में संग्रहित कर लिया जाता है। मटके में नमी का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए ताकि यह सूखे नहीं। इस घड़े को किसी ठंडे स्थान पर रखा जाता है तथा इसका ढक्कन थोड़ा ढीला रखा जाता है ताकि उसके अंदर हवा का आवागमन हो सके। इस समय जीवाणुओं के प्रभाव से सींग में से निकले हुए खाद बारीक खाद में परिवर्तित हो जाती हैं।

इ. सींग खाद के उपयोग का समय

सींग खाद का उपयोग फसल पर तीन बार करना चाहिए। पहली बार बोनी से एक दिन पहले सायंकाल में, दूसरी बार जब फसल बीस दिन की हो जाए तथा तीसरी बार तब जब फसल 50–60 दिन की हो जाए। क्योंकि इस खाद में चन्द्रमा का प्रभाव होता है अतः बेहतर परिणाम प्राप्त करने हेतु इसे शुक्ल पक्ष में पंचमी से पूर्णिमा के बीच प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इस प्रकार जब भी चन्द्रमा दक्षिणायन हो तब इसका उपयोग किया जा सकता है। अमावस के आस–पास किया गया इसका उपयोग चन्द्रवल की कमी के कारण लाभप्रद नहीं रहता।

फ. उपयोग की विधि

30 ग्राम सींग खाद 13 लीटर पानी में मिलाएं पानी कुएं अथवा ट्यूबवेल का होना चाहिए नल का नहीं। इस मिश्रण को एक बाल्टी में निकाल कर एक डंडे की मदद से गोल घुमाया जाता है ताकि उसमें भंवर पड़ जायें। एक बार भंवर पड़ जाने पर उसे उल्टी दिशा में घुमाया जाता है तथा तदुपरान्त पुनः उसे दिशा पलट कर घुमाया जाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया एक घंटे तक जारी रखी जाती है। पूरी तरह घुल जाने पर झाड़ू की मदद से इस मिश्रण को खेत में छिड़क दिया जाता है। इस मिश्रण का उपयोग एक घंटे के भीतर हो जाना चाहिए तथा इसका उपयोग शाम में ही किया जाना चाहिए जब भूमि में नमी हो। घोल अधिक हो तो बड़े बर्तन तथा स्प्रे पम्प का उपयोग भी किया जा सकता है। ऐसा स्प्रे पम्प साफ होना चाहिए ताकि इसमें किसी प्रकार का रासायनिक अवशेष नहीं होना चाहिए।

ज. सींग खाद के लाभ

सींग खाद का दो–तीन साल तक नियमित उपयोग करने से जमीन में गुणात्मक सुधार आ जाते हैं। इससे जमीन में जीवाणुओं की संख्या के साथ–साथ केंचुओं तथा ह्यूमस बनाने वाले जीवों की संख्या भी बढ़ जाती है। इससे जमीन भुरभुरी हो जाती है, जड़ें ज्यादा गहराई तक जाती हैं तथा मिट्टी अधिक समय तक नम रहती है इससे भूमि की नमी धारण की क्षमता चार गुना बढ़ जाती है तथा दलहनी फसलों की जड़ों में नोड्यूल्स की संख्या बढ़ जाने से जमीन की उपजाऊ शक्ति भी बढ़ जाती है।

6. अग्निहोत्र पद्धति

अग्निहोत्र पद्धति प्राण ऊर्जा विज्ञान पर आधारित है तथा इसका उद्देश्य पर्यावरण में अमृत संजीवनी घोलना होता है वेदोक्त अग्निहोत्र चिकित्सीय प्रभाव (हीलिंग इफेक्ट) रखता है तथा यदि कृषि में इसका उपयोग किया जाए तो जो वातावरण दूषित हो चुका है (रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों की वजह से) उसकी हीलिंग अर्थात उसका पुर्नरुत्थान होता है, जिससे अंततः किसान की उपज भी बढ़ती है तथा उसकी गुणवत्ता भी सुधरती है। वेदोक्त अग्निहोत्र की पांच प्रमुख आवश्यकताएं होती हैं– 1. विशिष्ट आकार का पात्र (तांबे अथवा मिट्टी का बना हुआ); 2. गाय के गोबर से बने हुए कण्डे; 3. गाय का घी तथा अक्षत चावल (बिना टूटे हुए); 4 सूर्योदय–सूर्यास्त का समय; तथा 5 विशिष्ट मंत्र

अ. अग्निहोत्र की प्रक्रिया

अग्निहोत्र की प्रक्रिया निम्नानुसार होगी–

1. विशिष्ट आकार का पात्र : सर्वप्रथम अग्निहोत्र हेतु पिरामिड के आकार के तांबे अथवा मिट्टी के पात्र की आवश्यकता होती है।

2. गोबर के कण्डे : अग्निहोत्र हेतु गाय के गोबर से बने उपले अथवा कन्डों का उपयोग किया जाना चाहिए जो पतले (मोटी रोटी जैसे) हों तथा फर्श अथवा प्लास्टिक शीट पर बनाए गए हों। एक समय में ऐसे कम से कम दो कण्डों की आवश्यकता होगी तथा अग्निहोत्र करने से 5–7 मिनट पूर्व इन्हें छोटे–छोटे टुकड़ों में तोड़ कर पात्र में डाल दिया जाता है।

3. कण्डे के छोटे–छोटे टुकड़े कर लेने के उपरान्त इसमें **कपूर के टुकड़े से अग्नि** प्रज्वल्लित करें

4. अग्नि प्रज्वलित करने के उपरान्त इसमें दो आहुतियां दें। आहुति की सामग्री है– एक बूंद गाय का घी तथा चुटकी भर अक्षत (बिना टूटे चावल)। बाएं हाथ की हथेली में चुटकी भर चावल लेकर उसमें एक बूंद गाय का घी मिलाकर इसके दो हिस्से करने होते हैं। दो हिस्सों में की गई यह आहुति दो मंत्रों के साथ करनी होती है।

5. अग्निहोत्र करने का समय है– सूर्योदय तथा सूर्यास्त, जोकि हर शहर का अलग–अलग होता है। सूर्योदय/सूर्यास्त की समय–सारणी अपने शहर (पास के शहर) से प्राप्त करनी होगी। आहुति देने में 20–25 सैकण्ड का समय लगता है तथा भस्म होने में 2–3 मिनट का समय। अग्निहोत्र में समय का ध्यान रखना अत्यंत महत्वपूर्ण है तथा ठीक समय पर ही आहुति दी जानी चाहिए।

6. सूर्योदय के समय केवल दो आहुतियां देनी होती हैं तथा उस समय केवल दो मंत्रों का उच्चारण करना होता है, ये मंत्र है–

(क) पहला मंत्र : सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम (इसके साथ ही पहली आहुति अग्नि में डाल दें।

(ख) दूसरा मंत्र : प्रजापतये स्वाहा प्रजापतये इदं न मम (दूसरी आहुति अग्नि में डाल दें)

7. सूर्यास्त के समय निम्नानुसार दो आहुतियां दें तथा ये दो मंत्र बोले–

क. पहला मंत्र : अग्नेय स्वाहा। अग्नेय इदं न मम (इसके साथ ही पहली आहुति अग्नि में डाले दें)

ख. दूसरा मंत्र : प्रजापतये स्वाहा। प्रजापतये इदं न मम (अब दूसरी आहुति अग्नि में डाल दें)

अग्निहोत्र के उपरान्त अग्निपात्र में बची हुई भस्म को अगले अग्निहोत्र के समय से पूर्व निकाल कर बोरी अथवा पोलीथीन बैग अथवा मटके में रख लिया जाना चाहिए। यह उत्तम दवा भी होती है तथा खाद भी। वैसे भी यह सभी जानते हैं कि गाय के गोबर के कण्डे की राख तो स्वयं ही एक औषधि है परन्तु अग्निहोत्र भस्म इस औषधि के गुणों को कई गुणा बढ़ा देती है।

ब. औषधीय कृषि में अग्निहोत्र की उपयोगिता

–बोनी से कटाई तक प्रतिदिन खेत के किनारे सुबह–शाम अग्निहोत्र करें। इससे खेत की फसल स्वस्थ रहेगी तथा बीमारियों एवं कीटाणुओं से मुक्त रहेगी।

–अग्निहोत्र भस्म तथा गौमूत्र से बीजोपचार भी कर सकते हैं। इससे बीज जनित रोग नियन्त्रित हो जाते हैं। इसके लिए जो बीज बोना हो उसे पहले गौमूत्र में डुबो दें तथा निकालने के उपरान्त उसमें भस्म मिलाकर उसे छाया में सुखाएं तथा तदुपरान्त बिजाई करें।

–यदि पर्याप्त मात्रा में भस्म उपलब्ध हो तो फसल बोने से पूर्व खेत में भस्म छिड़क दें। एक एकड़ में यदि एक कि.ग्रा. भस्म छिड़की जा सके तो यह फसल के लिए काफी उपयोगी होगी।

–फसल के रोगों के निदान हेतु भी भस्म का उपयोग किया जा सकता है। जिसके लिए किसी टंकी में 100 लीटर पानी में 5 लीटर गौमूत्र तथा 2 कि.ग्रा. भस्म मिलाकर उसका घोल बना लें। इस घोल को डंडी की सहायता से दिन में दो–तीन बार हिलाएं तीसरे दिन जब भस्म नीचे बैठ जाए तो बगैर हिलाए पानी को निथार लें तथा स्प्रे पंप की सहायता से इसका फसल पर स्प्रे करें। सम्पूर्ण फसल पर यदि दो–तीन बार स्प्रे हो सके तो इसके काफी अच्छे परिणम आयेंगे।

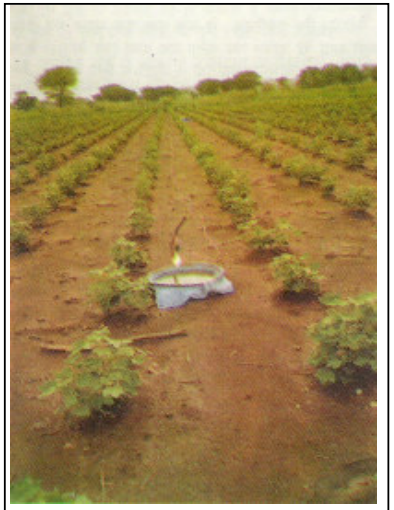

फसलों के बीच रखा गया लाइट ट्रैप

–अग्निहोत्र भस्म का उपयोग फसल के भण्डारण के लिए भी किया जा सकता है।

इस प्रकार अग्निहोत्र कृषि पद्धति जैविक कृषि की एक महत्वपूर्ण विधि है जो न केवल फसल की उपज एवं गुणवत्ता को सुधारती है बल्कि पर्यावरण को भी सुधारती है।

जैविक कृषि की अन्य पद्धतियों तथा अग्निहोत्र पद्धति में मात्र इतना अंतर है कि यदि आप अच्छे तथा सुनिश्चित परिणाम चाहते हैं तो अग्निहोत्र की प्रक्रिया आपको प्रतिदिन करनी होती है।

(ख) पौध सुरक्षा हेतु जैविक विधियाँ

आधुनिक समय में होने वाली अधिकांशतः मानवीय बीमारियों का कारण उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली विषाक्त सब्जियां अनाज तथा फल हैं जिनकी सुरक्षा हेतु अंधाधुंध कीटनाशकों का उपयोग किया जाता है। इन कीटनाशकों के अत्यधिक महंगे होने के कारण न केवल किसान को इन पर अत्यधिक खर्च करना पड़ता है बल्कि इनके निरन्तर प्रयोग से कीटों में इनके प्रति प्रतिरोधक क्षमता भी विकसित हो चुकी है जिससे जहां पहले एक कि. ग्रा. कीटनाशक की आवश्यकता पड़ती थी अब डेढ़–दो कि.ग्रा. से भी काम नहीं चल पाता। इस वस्तुस्थिति के फलस्वरूप वैज्ञानिकों का ध्यान प्राकृतिक एवं जैविक कीटनाशकों तथा रोगनाशकों की ओर गया है जो न केवल सस्ते हैं बल्कि जिनके उपयोग से तैयार होने वाली फसल में किसी प्रकार के रासायनिक दुष्प्रभाव भी नहीं रहते। फसल सुरक्षा हेतु जिन प्रमुख जैविक कीटनाशकों/कीट नियन्त्रकों का उपयोग किया जा सकता है, वे निम्नानुसार हैं–

1. गौमूत्र

गाय के मूत्र (गौमूत्र) में 33 प्रकार के तत्व पाए जाते हैं जिनके फलस्वरूप वनस्पति पर आने वाले कीट, फफूंद तथा विषाणु रोगों पर नियन्त्रण होता है। गौमूत्र में उपस्थित गंधक कीटनाशक का कार्य करती है जबकि इसमें उपस्थिति नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटेशियम, लोहा, चूना, सोडियम आदि तत्व वनस्पति को निरोगी तथा सशक्त बनाते हैं। गौमूत्र में पाए जाने वाले मैंगनीज तथा कार्बोलिक एसिड़ कीटनाशक तथा प्रजनन रोधक का कार्य करते हैं। गौमूत्र में उपस्थित तांबा भी महत्वपूर्ण कीटनाशक का कार्य करता है। गौमूत्र पर आधारित कीटनाशक बनाने के कई नुस्खे प्रचलन में हैं जिनमें से कुछ प्रमुख नुस्खे निम्नानुसार हैं–

1. देशी गाय का दस लीटर गौमूत्र तांबे के बर्तन में लें। इसमें एक कि.ग्रा. नीम के पत्ते डालकर इसे 15 दिन तक गलने दें। तदुपरान्त इसे तांबे

की कढ़ाई में उबालें। जब यह 50 प्रतिशत (5 लीटर) रह जाए तो इसे नीचे उतार कर छान लें तथा इसमें 100 गुना पानी मिलाकर फसल पर छिड़काव करें। यदि इसे और अधिक तेज करना हो तो औटाने के समय 50 ग्राम लहसुन भी कूट कर इसमें मिला दें। इससे न केवल विभिन्न कीटों तथा सुंडियों पर नियन्त्रण होगा बल्कि उपज भी बढ़ेगी। नीम के पत्तों के स्थान पर आंकड़े के पत्ते, सीताफल के पत्ते अथवा निम्बोली पावडर का भी उपयोग किया जा सकता है।

2. 150–200 मि. लीटर गौमूत्र, 15 लीटर पानी में मिलाकर स्प्रेयर पम्प की सहायता से फसलों पर बुआई के 15 दिन बाद प्रत्येक 10–10 दिन के अंतराल पर छिड़काव करें। इससे फसलों में विभिन्न रोगों एवं कीड़ों के प्रति प्रतिरोधात्मक क्षमता विकसित होती है जिससे कीड़ों के प्रकोप की संभावना कम होती है।

3. 40 लीटर गौमूत्र, आधा कि.ग्रा. तम्बाकू, आधा कि.ग्रा. लहसुन, चार कि.ग्रा. नीम की पत्तियां तथा एक तांबे का टुकड़ा लेकर इन्हें सीमेन्ट की टंकी अथवा मिट्टी के घड़े में डालकर 21 दिन के लिए जमीन में गाड़ दें। इस घड़े के मुंह पर कपड़ा बांध दें तथा मुंह जमीन से ऊपर रखें। 21 दिन के बाद इसे उबाल कर छान लें। इस मिश्रण का आधा लीटर भाग 15 लीटर पानी में मिलाकर फसल की किसी भी अवस्था पर छिड़काव करें। इस छिड़काव के फलस्वरूप कोई भी कीट अथवा इल्ली (लीफ माइनर को छोड़कर) फसल के फूल पत्ते अथवा तने को नुकसान नहीं पहुंचाएगी। यह स्प्रे प्रत्येक 15 दिन में पुनः करते रहें।

2. नीम

नीम को प्राकृतिक कीटनाशक तथा रोग निरोधक माना गया है। नीम से बनाई जा सकने वाली प्रमुख कीट निरोधक दवाइयां निम्नानुसार हैं–

1. नीम की 10–12 कि.ग्रा. पत्तियां 200 लीटर पानी में 4 दिन तक भिगोकर रखें। जब पानी हरा–पीला होने लगे तो इसे निचोड़ एवं छान लें। इतनी मात्रा में तैयार हुआ यह मिश्रण एक एकड़ के क्षेत्र में इल्ली की रोकथाम के लिए पर्याप्त होता है।

2. नीम की खली एक आदर्श दीमक नियंत्रक का कार्य करती है। इसके साथ–साथ यह व्हाइट ग्रब एवं अन्य कीटों की इल्लियां, प्यूपा तथा भूमि जनित रोगों जैसे बिल्ट आदि की रोकथाम में भी सहायक होता है। इसके लिए बिजाई से पूर्व खेत में 2 से 3 क्विंटल पिसी हुई नीम की खली मिलाया जाना लाभकारी होता है।

3. दो कि.ग्रा. नीम की निबोली को 10 लीटर पानी में डालकर 4–6 दिन तक रखें। यदि निंबोली जम जाए तो बीच–बीच में लकड़ी से हिलाते रहे। इसे छानकर इसमें 200 लीटर पानी मिलाकर खेतों में फसलों पर छिड़कने से विभिन्न कीटों तथा इल्लियों पर नियन्त्रण होता है। बायोवेद शोध संस्थान ने 15 विभिन्न पादप तत्वों के पाउडर को मिलाकर 'बायोनीमा' नामक जैविक खाद का निर्माण किया है जिसका प्रयोग 15 किग्रा प्रति एकड़ की दर से प्रयोग करने से 20–30 प्रतिशत उत्पादन बढ़ने के साथ सूत्रकृमियों विभिन्न शत्रु कीटों तथा अन्य रोगों के जैविक नियन्त्रण में सहायक है।

3. विभिन्न ट्रैप क्राप्स का उपयोग

विभिन्न फसलों की कीटों एवं सुन्डियों से सुरक्षा हेतु कई प्रकार की ट्रैप क्राप्स का उपयोग भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कपास की फसल की सुंडियों से सुरक्षा हेतु ट्रैप क्राप के रूप में मेस्ता अथवा अम्बाड़ी (हिबसकस सदारिफा) का उपयोग काफी लाभकारी पाया गया है। इस उद्देश्य से कपास की दस पंक्तियों के बीच दो पंक्तियां मेस्ता की लगा दी जाती हैं। मेस्ता की फसल पर काफी अधिक परभक्षी पक्षी आते हैं जो कपास की फसल पर आने वाली सुंडियों को खा लेते हैं जिससे कपास की फसल की हानिकारक कीटों एवं सुण्डियों से सुरक्षा हो जाती है। इस कार्य हेतु एक एकड़ के लिए मेस्ता के केवल 100 ग्राम बीजों की आवश्यकता होती है। विदर्भ (महाराष्ट्र) के किसानों द्वारा कपास की फसल में एक जैविक कीट नियन्त्रक के रूप में मेस्ता का उपयोग किया जाता है तथा इस प्रकार उत्पादित जैविक कपास उनके द्वारा 15 प्रतिशत अधिक दरों पर जर्मनी को निर्यात की गई है। इसी प्रकार कृषकों के गुप्त शत्रु सूत्रकृमियों के नियंत्रण हेतु खेतों के किनारों पर गेंदा के फूल भी लगाए जा सकते हैं।

4. स्वनिर्मित लाईट ट्रैप का उपयोग

कीट पतंगों तथा इल्लियों से सुरक्षा हेतु स्वनिर्मित लाईट ट्रैप का

उपयोग भी लाभकारी रहता है। इसके लिए मुख्यतया तीन वस्तुओं की आवश्यकता होगी–

(क) पानी भरने के लिए आधा कटा मटका

(ख) दूधिया बल्ब तथा इलैक्ट्रिक वायर

(ग) लकड़ी के टुकड़े जिन पर यह मटका टिकाया जा सके।

इस प्रकार सर्वप्रथम लकड़ी का एक स्टैण्ड (फसल की ऊँचाई के समकक्ष) एसे बनाऐं कि इस पर मटका टिक जाए। इस स्टैण्ड पर आधा कटा हुआ मटका रख दें। तथा इस आधे मटके का 3/4 भाग पानी से भर दें तथा इस पानी में 50 मि.ली. मिट्टी का तेल डाल दें। तदुपरान्त एक लकड़ी गाड़ कर इस पर एक दूधिया बल्ब टांग दें। इस बल्ब को शाम 6 से 10 बजे तक तथा प्रातः 4 से 6 बजे तक जलाएं। यदि असुविधा हो तो बल्ब को सारी रात जलने दें। प्रातः आप देखेंगे कि जिस पात्र में पानी तथा मिट्टा का तेल डाला गया था उसमें कई प्रकार के कीट पतंगे मरे पड़े हुए मिलेंगे। ये पतंगे उन इल्लियों के जन्मदाता हैं जो फसल की प्रारंभिक अवस्था में तो नाम मात्र ही होते हैं परन्तु यदि इन्हें इस समय पर न मारा जाए तो ये कुछ ही दिनों में हजारों, लाखों तथा करोड़ों इल्लियों को जन्म दे देते हैं तथा प्रायः सितम्बर के महीने में कीट महामारी का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार इस ट्रैप से प्राकृतिक रूप से रोग नियन्त्रण हो जाता है। लाइट ट्रैप से प्राकृतिक रूप से रोग नियन्त्रण हो जाता है। लाइट ट्रैप का उपयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पानी में कोई जहरीला पदार्थ न मिलाएं। ट्रैप को खाली स्थान पर ही लगाएं तथा प्रातः ट्रैप के आसपास जो भी जीवित पतंगे दिखें उन्हें नष्ट कर दें। इसके अतिरिक्त आस–पास के किसानों को भी इस प्रकार के ट्रैप लगाने हेतु प्रोत्साहित करें ताकि सुंडियों पर सटीक नियंत्रण प्राप्त किया जा सके। अमावस्या के आस–पास इस प्रकार का ट्रैप अनिवार्यतः लगाएं यदि बिजली न हो तो मोमबत्ती अथवा चिमनी का उपयोग भी किया जा सकता है।

5. फैरोमीन ट्रैप

फैरोमीन ट्रैप प्लास्टिक से बना हुआ एक सस्ता यंत्र होता है जिससे मादा की कृत्रिम गंध वाला एक द्रव्य (जो कैप्सूल के रूप में होता है तथा

विभिन्न प्रजातियों के कीटों के लिए अलग–अलग होता है) लगाया जाता है। इस द्रव्य (ल्यूर की गंध से नर कीट इसकी ओर आकर्षित होकर इस ट्रैप में फंसकर मर जाते हैं तथा कीट पतंगों की आने वाली पीढ़ी बाधित हो जाती है। इस कैप्सूल को 15–20 दिनों में बदल दिया जाना चाहिए।

6 एन.पी.वी. का उपयोग

यदि हेलीयोथीस इल्ली का प्रकोप बढ़ जाए तो इन इल्लियों को पकड़ कर छिद्रयुक्त छोटी बोतलों में 24 घंटे अलग–अलग बंद करके भूखी रखें। तदुपरान्त इन बोतलों में न्यूक्लीयर पोली हाइड्रल वायरस (एन.पी.व्ही.) घोल में भिगोए हुए काबुली चने एक–एक बोतल में एक–एक करके डालें। भूखी इल्ली इन संक्रमित चनों को खाकर दो–तीन दिन में मर जाएगी। तदुपरान्त इन मरी हुई इल्लियों को पीसकरके फसल पर स्प्रे कर दें। जब अन्य इल्लियां इस फसल को खाएंगी तो वे भी एन.पी.व्हीं से संक्रमित होकर मर जाएंगी। इस प्रकार इल्लियों के नियंत्रण हेतु नाममात्र के खर्चे से यह प्रभावी औषधि किसान स्वयं निर्मित कर सकता है।

7. विभिन्न प्रकार के अर्कों का उपयोग

विभिन्न प्राकृतिक कीटनाशकों का उपयोग करके काफी प्रभावी कीटनाशकों का निर्माण किया जा सकता है। इनको बनाने की मुख्यतया चार विधियां हैं– सड़ाकर (संबंधित वस्तु को 5–7 दिन सड़कर रखा जाता है तथा तदुपरान्त निचाड़कर कीटनाशक प्राप्त किया जाता है); उबालकर (तत्काल उबाल कर कीटनाशक प्राप्त किया जाता है); चटनी अथवा रस निकालकर; तथा आसवन करके अथवा अर्क निकालकर।

पत्तियों का अर्क निकालने हेतु स्व–निर्मित दारू भट्टी

विभिन्न पत्तियों जैसे नीम आक, सीताफल आदि की पत्तियों का अर्क निकालने हेतु (कीटनाशक के रूप में प्रयुक्त करने हेतु) एक दारू भट्टी स्थानीय साधनों से भी बनाई जा सकती है। इस भट्टी के मुख्यतया चार भाग होते हैं– एक ड्रम, एक मिट्टी का बना घड़ा, एक पाइप तथा कन्डेन्सर। ड्रम में सर्वप्रथम फर्मेन्टेड (सड़ी हुई) पत्तियों को रखा जाता है तथा इसे भट्टी पर गर्म किया जाता है। तदुपरान्त मिट्टी के पुराने घड़े को इस ड्रम पर उल्टा रख कर इसके पेंदे में छेद करके एक लोहे या पी.वी.सी. की पाइप डालकर इसके

मुंह को गीली मिट्टी से एयरटाइट कर दिया जाता है। इसके उपरान्त एक 8–10 लीटर क्षमता के छोटे मुंह वाले बर्तन को कन्डेन्सर बनाया जाता है। कन्डेन्सर का आधा भाग पानी के गड्ढे में डुबोकर रखा जाता है। इस कन्डेन्सर का मुंह भी एयरटाइट कर दिया जाता है ताकि भाप उड़कर बाहर न निकले तथा भाप को कन्डेन्सर में एकत्रित किया जा सके।

इससे पूर्व प्रयुक्त की जाने वाली पत्ती की 20 कि.ग्रा. मात्रा को एक कि.ग्रा. महुआ अथवा गुड़ के साथ 15 लीटर पानी के साथ सात दिन तक फर्मेन्ट किया जाता है। तदुपरान्त इसे भट्टी में उबालकर कन्डेन्सर किया जाता है। जब 4 लीटर द्रव एकत्रित हो जाए तो अर्क अथवा आसवन की प्रक्रिया को बंद कर दिया जाता है तथा यही अर्क औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

विभिन्न प्रकार के अर्कों का उपयोग निम्नलिखित कीटों पर प्रभावी पाया गया है–

क. नीमपत्ती, निंबोली एवं नीम खली का अर्क : सभी प्रकार की इल्लियों, सफेद मक्खी, हरा मच्छर तथा माहू को नियन्त्रित करता है।

ख. अकाव तथा धतूरे के पत्तों का अर्क : यह सभी प्रकार की इल्लियों के भक्षण को नियंत्रित करता है।

ग. सीताफल तथा अरनी के पत्तों का अर्क : यह हरा मच्छर, माहू, सफेद मक्खी एवं इल्लियों को नियन्त्रित करता है

घ. बेशरम तथा तम्बाकू की पत्ती का अर्क : सफेद मक्खी, हरा मच्छर एवं सभी प्रकार की इल्लियों को नियंत्रित करता है।

च. हरी मिर्च, लहसुन तथा प्याज का अर्क : यह सफेद मक्खी, हरा मच्छर, माहू एवं इल्लियों को नियन्त्रित करता है।

8. छाछ के उपयोग

छाछ अथवा मही भी एक काफी उपयोगी जैविक कीटनाशक है। छाछ पर आधारित जो प्रमुख फार्मूले प्रचलन में हैं, वे हैं–

(अ) पांच लीटर छाछ को तांबे या मिट्टी के बर्तन में अथवा प्लास्टिक जार में भरकर मिट्टी अथवा भूसे के अंदर 8–10 दिनों तक गड़ाकर रखें। तदुपरान्त इसका 100 लीटर पानी में घोल बनाकर फसल पर

छिड़काव करने से विभिनन फसलों में होने वाला चुरड़ा–मुरड़ा रोग नियन्त्रित हो जाता है।

(ब) एक मटका भर खट्टी छाछ (मही) लें। इसके उपरान्त अकाव के पत्ते पीसकर एक मग भर लें। यदि धतूरे के फल मिल जाऐं तो छः फल पीस लें। इसमें 50 ग्राम पिसा नमक डालकर उपरोक्त तीनों पदार्थों (अकाव, धतूरा तथा नमक) को एक महीने तक ढांक कर रख दें। एक महीने के उपरान्त इसे पानी की छलनी से छान लें तथा जो फोक बचे उसे फेंक दें। इस मिश्रण में 50 गुना पानी डालकर अच्छी प्रकार घोल कर फसल पर स्प्रे करें। इससे समस्त छोटी–बड़ी इल्लियां समाप्त हो जाएंगी।

(स) एक मटके में 2 किलो नीम के पत्ते पीस कर डाल दें एवं मटका पानी से भर दें। 15 दिन में नीम का पूरा अर्क पानी में उतर आएगा। इस पानी को छान लें तथा फोक को फेंक दें। इस नीम के पानी का आधा लीटर, छाछ का आधा लीटर तथा निरमा पावडर अथवा कोई भी डिटरर्जेन्ट पावडर (लगभग 15 ग्राम) लेकर इन्हें घोल लें। इस मिश्रण में 15 लीटर पानी मिलाकर इसे अच्छी प्रकार घोलकर खेत में स्प्रे करे। इससे छोटी–बड़ी इल्लियां नियन्त्रित होंगी।

9. अन्य नुस्खे

रोग एवं कीट नियन्त्रण हेतु अपनाई जाने वाली जैविक विधाओं के कुछ अन्य प्रमुख नुस्खे निम्नानुसार है–

क. पलास के पत्तों को कांस पर बिछाने से कांस काफी हद तक नष्ट हो जाती है।

ख. 5 किलो बेशरम के पत्ते तथा धतूरे के तीन फल 5 लीटर पानी में उबालें। जब पानी 2 लीटर के करीब रह जाए तब इस मिश्रणको छान लें। बचे हुए पत्ते जमीन में गाड़ दें। अब इस घोल में एक किलो चने डालकर उबालें तथा ठंडा होने पर इसे चूहों के बिलों के पास डाल दें चूहे इन्हें खाते ही मर जाएंगे।

ग. सुपारी के साइज की हींग एक कपड़े में लपेटकर तथा उसमें पत्थर बांधकर खेत की ओर बहने वाली पानी की पाली में रख दें। इससे दीमक तथा उकठा रोग नष्ट होगा।

उपरोक्तानुसार देखा जा सकता है कि ऐसे कई आसान तथा सस्ते उपाय हैं जिन्हें अपनाकर कीटों तथा रोगों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है तथा खर्चा भी बचता है। परन्तु इन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है इन पद्धतियों तथा विधाओं का आधार जो पूर्णतया जैविक होने के कारण मानव मात्र के स्वास्थ्य के लिए किसी प्रकार से हानिकारक नहीं है।

जैविक खेती के मार्ग की प्रमुख बाधाएं

यद्यपि धीरे–धीरे किसान रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों का मोह त्याग करके जैविक खादों तथा कीटनाशकों को अपना रहा है परन्तु फिर भी वह पूरी तरह जैविक खेती की ओर आकृष्ट नहीं हो पाया है, जिसके प्रमुख कारण हैं–

1. रासायनिक उर्वरक तथा कीटनाशक आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं जबकि जैविक कीटनाशकों के निर्माण में कुछ समय लग जाता है जिसका बहुधा किसान इंतजार नहीं कर पाते।

2. जैविक उत्पादों के प्रत्यक्ष प्रमाण (उपज की दृष्टि से) अभी उपलब्ध नहीं हैं जिससे किसान इनकी उपयोगिता के प्रति ज्यादा आश्वस्त नहीं है।

3. जैविक खेती के उचित प्रचार–प्रसार की भी कमी है। विशेषतया इसका फसल, मृदा की सेहत तथा मानव मात्र की सेहत पर होने वाले हुए प्रभावों को प्रचारित करना आवश्यक है।

4. जैविक विधियां अपनाने पर शुरुआती दिनों में उत्पादन में कुछ गिरावट आ सकती है जिससे किसानों को इसकी उपयोगिता पर भ्रम हो सकता है। इस बारे में किसानों को शिक्षित करने की आवश्यकता है।

5. अभी भी जैविक पद्धतियों में फसलों की कई बीमारियों के उपचार (त्वरित) उपलब्ध नहीं है। इस दिशा में व्यापक शोध की आवश्यकता है।

इन समस्त अवरोधों तथा कठिनाइयों के बावजूद वर्तमान में काफी अधिक किसान जैविक खेती की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। क्योंकि अंततः जैविक खेती ही टिकाऊ खेती है तथा जैविक खेती में ही मानव मात्र, भूमि तथा पर्यावरण के हित सुरक्षित रह सकते हैं, **विशेषतया औषधीय खेती के क्षेत्र में सफल होने के लिये तो यह पहली सीढ़ी है।**

❖❖❖

इकाई 2

अति लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. जैविक पद्धति की परिकल्पना सर .....ने वर्ष 1930 में की थी।
2. हरी खाद से भूमि में .....पदार्थों तथा.....की मात्रा में वृद्धि होती है।
3. हरी खाद के लिए .....तथा.....की फसलें प्रयोग में लायी जाती हैं।
4. गाय के वार्षिक गोबर से.....से.....टन बैलगाड़ी खाद प्राप्त होती है। जिसमें 0.5 से 1.5 प्रतिशत .....0.5 प्रतिशत..... .....तथा 2–1 प्रतिशत रहता है।
5. नाडेप पद्धति से खाद तैयार होने में.....माह का समय लगता है।
6. कूड़ा–कचरा, गोबर को केचुओं तथा सूक्ष्म जीवों की सहायता से उपजाऊ खाद. .....कहलाती है।
7. वर्मी कम्पोस्ट खाद तैयार होने में.....माह का समय लगता है
8. औषधीय फसलों में प्रति एकड़ गोबर खाद.....टन कम्पोस्ट खाद..... .....खाद.....टन, वर्मी कम्पोस्ट.....टन प्रयोग किया जाता है।
9. वर्मीकम्पोस्ट बेड का तापमान.....से.....बनाए रखना चाहिए तथा इसमें नमी.....से.....प्रतिशत तक रहनी चाहिए।
10. सींग खाद बनाने का उपयुक्त समय.....का महीना होता है।
11. गोबर से भरे सींग के खोलों को सामान्यतया.....माह तक गड्ढे में रखा जाता है।
12. गाय के मूत्र (गोमूत्र) में.....प्रकार के तत्व पाये जाते हैं।
13. फेरोमीन ट्रैप के कैप्सूल को .....दिनों में बदल दिया जाना चाहिए।
14. बेशरम तथा तम्बाकू की पत्ती का अर्क.....प्रकार की इल्लियों को नियंत्रित करने में किया जाता है।
15. नीम पत्ती, निबोली तथा नीम खली का अर्क सभी प्रकार की.....,..... .....तथा माहू को नियंत्रित करने में प्रयोग किया जाता है।
16. .....खेती से ही मानव मात्र, भूमि तथा पर्यावरण के हित सुरक्षित रह सकते हैं।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. औषधीय पौधों की खेती में जैविक पद्धति द्वारा कृषि की स्थिति की विवेचना कीजिए?
2. वर्मी कम्पोस्ट एवं सींग की खाद बनाने की विधियाँ क्या हैं?
3. औषधीय पौधों के आयात एवं निर्यात की स्थिति पर प्रकाश डालिए?

❖❖

इकाई– 3

3.1 सोने की जड़ों वाली औषधीय फसल : सफेद मूसली

3.2 अश्व के समान शक्ति प्रदान करने वाला औषधीय पौधा अश्वगंधा

3.1 सोने की जड़ों वाली औषधीय फसल : सफेद मूसली

3.1.1 भूमिका

3.1.2 उद्देश्य

3.1.3 सफेद मूसली की विभिन्न प्रजातियां/किस्में

3.1.4 मूसली के औषधीय उपयोग

3.1.5 मूसली की खेती की आवश्यकता क्यों

3.1.6 मूसली की खेती कैसे करें

3.1.7 खेती के लिए उपयुक्त भूमि

3.1.8 फसल के लिए पानी की आवश्यकता

3.1.9 मूसली की खेती के प्रमुख लाभ

3.1.10 खेत की तैयारी

3.1.11 वेड्स बनाना

3.1.12 मूसली की बिजाई हेतु प्रयुक्त होने वाला बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल

3.1.13 जंगलों से प्राप्त किए जाने वाले बीज

3.1.14 क्या बीजों से भी मूसली की बिजाई की जा सकती है?

(अ) प्लांटिंग मेटेरियल की मात्रा

(ब) बिजाई से पूर्व प्लांटिग मेटेरियल का ट्रीटमेन्ट

3.1.15 बिजाई की विधि

3.1.16 पौधों का उगना तथा बढ़ना

3.1.17 मूसली की फसल से होने वाले उत्पादन की मात्रा

3.1.18 मूसली की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियां तथा प्राकृतिक आपदाएं

3.1.19 पतली मूसली की फिंगर्स/ट्यूबर्स का उत्पादन पर प्रभाव

3.1.20 जमीन से पौधों/कन्दों को उखाड़ना

3.1.21 कंदों को जमीन से उखाड़ने का उपयुक्त समय

3.1.22 कंदों की धुलाई

3.1.23 मूसली के कंदों की छिलाई

(क) पत्थर से घिसाई

(ख) मूसली को गीला करके उसका छिलका उतारना

(ग) चाकू से छिलाई

3.1.24 छिली हुई मूसली को सुखाना

3.1.25 मूसली की पैकिंग

3.1.26 जमीन से उखाड़ने से लेकर सुखाने तक में मूसली के वजन में कमी

3.1.27 आगामी फसल हेतु मूसली के बीज का संग्रहण कैसे किया जाए?

3.1.28 सागौन, पापुलर अथवा पपीते के साथ अंतर्वर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती

3.1.29 मूसली का उत्पादन तथा इसकी खेती से अनुमानित लाभ।

3.1.30 मूसली के बिक्री दर का निर्धारण

3.1.31 मूसली की खेती पर प्रति एकड़ होने वाले आय–व्यय का विवरण

3.2 अश्व के समान शक्ति प्रदान करने वाला औषधीय पौधा : अश्वगंधा

3.2.1 भूमिका

3.2.2 अश्वगन्धा के औषधीय उपयोग

3.2.3 अश्वगन्धा की खेती की विधि

3.2.4 अश्वगन्धा का जीवन चक्र

3.2.5 उपयुक्त जलवायु

3.2.6 भूमि का प्रकार

3.2.7 अश्वगन्धा की प्रमुख उन्नतशील किस्में

3.2.8 अश्वगन्धा की रासायनिक संरचना

3.2.9 बिजाई से पूर्व खेत की तैयारी

3.2.10 बिजाई की विधि

(क) सीधी खेत में बुआई

(ख) नर्सरी बनाकर पौधों की रोपाई

3.2.11 कौन सी विधि ज्यादा उपयुक्त है–सीधी बिजाई अथवा नर्सरी विधि

3.2.12 बिजाई से पूर्व बीजों का उपचार

3.2.13 पौधों का विरलन

3.2.14 खरपतवार नियंत्रण

3.2.15 खाद की आवश्यकता

3.2.16 फसल से संबन्धित प्रमुख बीमारियाँ तथा रोग

3.2.17 सिंचाई की व्यवस्था

3.2.18 फसल का पकना तथा जड़ों की खुदाई

3.2.19 जड़ों की ग्रेडिंग

3.2.20 उत्पादन तथा प्रजातियां

3.2.21 अश्वगन्धा की बिक्री की व्यवस्था

3.2.22 अश्वगन्धा की खेती के आर्थिक पहलू

इकाई– 3

प्रमुख औषधीय पौधों की खेती

3.1 सोने की जड़ों वाली औषधीय फसल

सफेद मूसली (*Chlorophytum borivillianum*)

3.1.1 भूमिका :

सफेद मूसली को मानव मात्र के लिए प्रकृति द्वारा प्रदत्त अमूल्य उपहार कहा जाए तो शायद अतिश्योक्ति नहीं होगी। अनेकों आयुर्वेदिक एलोपैथिक तथा यूनानी दवाईयों के निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाली इस दिव्य जड़ी–बूटी की विश्वभर में वार्षिक उपलब्धता लगभग 5000 टन है जबकि इसकी माँग लगभग 35000 टन प्रतिवर्ष आँकी गई है। यह औषधीय पौधा प्राकृतिक रूप से हमारे देश के जंगलों में पाया जाता है, परन्तु अंधाधुंध तथा अपरिपक्व विदोहन के कारण अब यह पौधा लुप्त होने की कगार पर है, यही कारण है कि अब इसकी विधिवत् खेती करने की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। इसकी खेती करने की दिशा में किए गए प्रयोग न केवल अत्याधिक सफल रहे हैं, बल्कि व्यावसायिक रूप से इसकी खेती लाभकारी भी है।

सफेद मूसली एक कंदयुक्त पौधा होता है, जिसकी अधिकतम ऊँचाई डेढ़ फीट तक होती है तथा इसकी कंदिल जड़ें (जिन्हें कंद अथवा फिंगर्स कहा जाता है) जमीन में अधिकतम 10 इंच तक नीचे जाती है। भारतवर्ष के विभिन्न भागों में जंगलों में प्राकृतिक रूप में पाया जाने वाला यह पौधा क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम के नाम से जाना जाता है परंतु ''इंडियन मेटीरिया मेडिका'' में इसका नाम क्लोरोफाइटम अरुंडीनेशियम दर्शाया गया है। गुजराती भाषा में यह पौधा धेली मूसली के नाम से, उत्तरप्रदेश में खैरुवा के नाम से, मराठी में सुफेद अथवा सुफेता मूसली के नाम से, मलयालम में शेदेवेली के नाम से,

सफेद मूसली का पौधा

तमिल भाषा में तानिरवितांग के नाम से तथा अरबी भाषा में यह शकेक्वेले हिन्दी के नाम से जाना जाता है। उ0 प्र0 एवं मध्यप्रदेश के जंगलों में यह पौधा बरसात के समय अपने आप उग जाता है तथा आदिवासी लोग इसे उखाड़ कर सस्ती दरों पर बाजार में बेच देते हैं। बहुधा यह मूसली ठीक से तैयार नहीं हो पाती (मैच्योर नहीं हो पाती), अतः इसके औषधीय गुणों में भी कमी रहती है। इसके फलस्वरूप बाजार में इसके उचित दाम नहीं मिल पाते तथा यह बाजार में 15 से 150 रुपये प्रति किग्रा0 की दर से बेच दी जाती है जबकि अच्छी गुणवत्ता वाली विधिवत सुखाई हुई मूसली की बाजार में 1500 रु0 प्रति कि.ग्रा. तथा इससे अधिक कीमत भी मिल जाती है।

3.1.2 उद्देश्य : सफेद मूसली की खेती के विषय में पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराना।

3.1.3 सफेद मूसली की विभिन्न प्रजातियाँ/किस्में :

मूसली की विभिन्न प्रजातियाँ पाई जाती हैं जैसे–क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम, क्लोराफाइटम ट्यूबरोजम, क्लोरोफाइटम अरुन्डीनेशियम, क्लोरोफाइटम एटेनुएटम, क्लोरोफाइटम ब्रीविस्केपम आदि, परन्तु मध्यप्रदेश के जंगलों में अधिकांशतः उपलब्धता क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम तथा ट्यूबरोज़म की ही है। इन दोनों में मुख्य अंतर यह है कि ट्यूबरोज़म में क्राउन के साथ एक धागा जैसा लगा होता है तथा उसके उपरांत इसकी मोटाई बढ़ती है, जबकि बोरिविलिएनम में कंद के फिंगर की मोटाई ऊपर ज्यादा होती है या तो पूरी फिंगर की मोटाई एक जैसी रहती है अथवा यह नीचे की ओर घटती जाती है। चूँकि ट्यूबरोज़म के संदर्भ में छिलका उतारना कठिन होता है अतः यह खेती के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती अस्तु अधिकांशतः क्लोरोफाइटम बोरिविलिएनम की ही खेती की जाती है।

3.1.4 मूसली के औषधीय उपयोग :

विभिन्न दवाईयों के निर्माण हेतु सफेद मूसली (कार्बोहाइड्रेट – 42 प्रतिशत, प्रोटीन्स – 8 प्रतिशत, फाइबर – 4 प्रतिशत, सैपोनिन्स – 17 प्रतिशत) का उपयोग हमारे देश में बरसों से होता आ रहा है। मूलतः यह एक ऐसी जड़ी–बूटी मानी गई है जिसमें किसी भी प्रकार की तथा किसी भी

कारण से आई शारीरिक शिथिलता को दूर करने की क्षमता पाई गई है। यही कारण है कि कोई भी आयुर्वेदिक टॉनिक (जैसे–च्यवनप्राश, शिलाजीत आदि) इसके बिना संपूर्ण नहीं माना जाता। नपुंसकता दूर करने, यौनशक्ति एवं बलवर्धन हेतु इसका उपयोग अधिक हो रहा है। यह इतनी पौष्टिक तथा बलवर्धक होती है कि इसे ''दूसरे शिलाजीत'' की संज्ञा दी गई है तथा इसे चीन/उत्तरी अमेरिका में पाये जाने वाले पौधे जिन्सेंग जिसका वनस्पतिक नाम ''पेनेक्स'' है,Phone : ..... जैसा बलवर्धक माना गया है। विदेशों में इससे कैलॉग जैसे फ्लेक्स बनाए जाने पर भी कार्य चल रहा है जो नाश्ते के रूप में प्रयुक्त किए जा सकेंगें। इसके अतिरिक्त इससे माताओं का दूध बढ़ाने, प्रसवोपरान्त होने वाली बीमारियों तथा शिथिलता को दूर करने तथा मधुमेह आदि जैसे अनेकों रोगों के निवारण हेतु भी दवाईयाँ बनाई जाती हैं। इसी प्रकार ऐसी अनेकों आयुर्वेदिक, एलोपैथिक तथा यूनानी औषधियाँ हैं जो इस जड़ी–बूटी से बनाई जाती हैं तथा जिसके कारण यह एक उच्च मूल्य जड़ी–बूटी बन गई है तथा भारत के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भी इसकी प्रचुर माँग है। वर्तमान में सफेद मूसली का उपयोग करके प्रमुख उत्पाद एवं औषधियां जैसे– शिवोजाइम, सूर्याशक्ति कैप्सूल, सीमेन्टो टेबलेट, मेमोटोन सिरप, मूसली पाक, कामदेव चूर्ण, दिव्य रसायन चूर्ण, केसरी जीवन, जोश शक्ति आदि।

3.1.5 मूसली की खेती की आवश्यकता क्यों ?

सफेद मूसली विभिन्न औषधियों के निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाली एक अमूल्य जड़ी–बूटी है जिसकी देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक माँग है। परन्तु जिस तेजी से यह माँग बढ़ रही है उसकी तुलना में इसके उत्पादन तथा आपूर्ति में बढ़ोत्तरी नहीं हो पाई है। अभी तक इसकी आपूर्ति का एक ही साधन था – जंगलों से इसकी प्राप्ति। परन्तु निरंतर तथा अंधाधुंध दोहन के कारण एक तो उपयुक्त गुणवत्ता वाली मूसली मिल पाना मुश्किल हो गया है, दूसरे इसकी आपूर्ति में भी निरंतर कमी आ रही है जबकि माँग निरंतर बढ़ रही है। एक अनुमान के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मूसली की कुल वार्षिक उपलब्धता 5000 टन है जबकि इसकी वार्षिक माँग 35000 टन है। इस बढ़ती हुई माँग की आपूर्ति तभी संभव है यदि इसकी विधिवत् खेती की जाए।

हमारे देश के विभिन्न भागों में मूसली की विधिवत् खेती प्रारंभ हुई है वैज्ञानिक तरीके से मूसली की खेती किसी भी प्रकार की खेती की तुलना में कई गुना ज्यादा लाभकारी है तथा इसकी खेती से औसतन प्रति एकड़ 4 से 5 लाख रुपये तक का शुद्ध लाभ कमाया जा सकता है। इसकी खेती के लिए मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, हरियाणा, दिल्ली आदि प्रदेशों की जलवायु काफी अनुकूल है।

3.1.6 मूसली की खेती कैसे करें ?

मूसली मूलतः एक कंदरुपी पौधा है जो कि हमारे देश के जंगलों में प्राकृतिक रूप से उगता है। स्वभाव से भी यह एक ''हार्डी'' पौधा है जिसकी विधिवत् खेती काफी सफल है। इसकी खेती से संबंधित किये गए सफल प्रयोगों के आधार पर इसकी खेती के लिए विकसित की गई बायोवेद कृषि तकनीक वर्तमान में काफी लाभदायक सिद्ध हुई है।

3.1.7 खेती के लिए उपयुक्त भूमि :

मूसली मूलतः एक कन्द है जिसकी बढ़ोत्तरी जमीन के अन्दर होती है अतः इसकी खेती के लिए प्रयुक्त की जाने वाली जमीन आर्द्र (नमी) होनी चाहिए। अच्छी जल निकासी वाली रेतीली दोमट मिट्टी जिसमें जीवाश्म की पर्याप्त मात्राा उपस्थित हो, इसकी खेती के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। भूमि ज्यादा गीली भी नहीं होनी चाहिए अन्यथा कन्द की फिंगर्स पतली रह जाएगीं जिससे इसका उत्पादन प्रभावित होगा।

बुआई के लिए फिंगर्स की कटिंग करते हुए कृषक

3.1.8 फसल के लिए पानी की आवश्यकता :

मूसली की अच्छी फसल के लिए पानी की काफी आवश्यकता होती है। जून माह में लगाए जाने के कारण जून–जुलाई, अगस्त के महीनों में प्राकृतिक बरसात होने के कारण इन महीनों में कृत्रिाम रूप से सिंचाई करने की

आवश्यकता नहीं होती, फिर भी यह ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि जब तक फसल उखाड़ न ली जाए तब तक भूमि गीली रहनी चाहिए। अतः बरसात के उपरांत लगभग प्रत्येक 10 दिन के अंतराल पर खेत में पानी देना उपयुक्त होगा। पौधों के पत्ते सूखकर झड़ जाने के उपरांत भी जब तक कंद खेत में हो, हल्की–हल्की सिंचाई प्रत्येक दस दिन में करते रहना चाहिए जिससे भूमिगत कन्दों की विधिवत् बढ़ोत्तरी होती रहे। सिंचाई के लिए यदि खेत में ''स्प्रिंकलर्स'' लगे हो तो यह सर्वाधिक उपयुक्त होगा परन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है। सिंचाई का माध्यम तो कोई भी प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु सिंचाई नियमित रूप से होते रहना चाहिए। यद्यपि सिंचाई किया जाना आवश्यक है परन्तु खेत में पानी रुकना नहीं चाहिए अन्यथा इससे फसल का उत्पादन प्रभावित होगा। सिंचाई के लिए कुआं, ट्यूबवेल, नहर आदि जो भी संभव हो, माध्यम का उपयोग किया जा सकता है।

3.1.9 मूसली की खेती के प्रमुख लाभ :

अत्याधिक लाभकारी फसल – मात्र 6 से 8 माह में प्रति एकड़ चार से पांच लाख रुपये का शुद्ध लाभ देने वाली और कोई फसल नहीं है। इसकी किसी प्रकार की प्रोसैसिंग करने की आवश्यकता नहीं–कोई मशीन लगाने की जरूरत नहीं। सीधे उखाड़ कर, छील कर तथा सुखा कर बेच सकते हैं। बाजार की समस्या नहीं – व्यापक बाजार उपलब्ध है। मूसली की खेती के लिए बायोवेद कृषि तकनीक विकसित हो चुकी है। बायोवेद शोध संस्थान में मूसली की खेती के लिए प्रशिक्षण उपलब्ध है। अधिक लोगों को रोजगार उपलब्ध हो सकेगा। मौसम के परिवर्तन का फसल पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि प्रारंभिक स्तर पर किसान मंहगा बीज न ले सकें तो कम बीज लेकर इनका विकास स्वयं भी कर सकते है।

3.1.10 खेत की तैयारी :

मूसली की फसल के लिए खेत की तैयारी करने के लिए सर्वप्रथम खेत में गहरा हल चला दिया जाता है। यदि खेत में ग्रीन मैन्यूर के लिए पहले से कोई अल्पावधि वाली फसल उगाई गई हो तो उसे काट कर खेत में डाल कर मिला दिया जाता है। तदुपरान्त इस खेत में गोबर की पकी हुई खाद 5 से 10 ट्राली प्रति एकड़ भुरक कर इसे खेत में मिला दिया जाता है।

बायोनीमा 15 किग्रा0 एवं बायोधन 1/2 किग्रा0 प्रति एकड़ की दर से डालकर बीज बोना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर 32 किग्रा. यूरिया 24 किग्रा. डी.ए.पी. प्रति एकड़ डालना चाहिए।

3.1.11 वेड्स बनाना :

मूसली की अच्छी फसल के लिए खेत में बेड्स बनाये जाना आवश्यक होता है। इस संदर्भ में 1 से 1.5 फीट चौड़े सामान्य खेत से कम से कम 6 इंच से 1.5 फीट ऊँचे बेड्स बना दिये जाते है। इनके साथ–साथ पानी के उचित निकास हेतु नालियों की पर्याप्त व्यवस्था की जाती है तथा बेड्स के किनारों पर आने–जाने के लिए पर्याप्त जगह छोड़ा जाना आवश्यक होता है। यदि ज्यादा चौड़े बेड्स न बनाने हो तो आलू की तरह के सिंगल बैड्स भी बनाए जा सकते है। हालाँकि इसमें काफी ज्यादा जगह घिरेगी परन्तु मूसली उखाड़ते समय यह ज्यादा सुविधाजनक रहेगा।

3.1.12 मूसली की बिजाई हेतु प्रयुक्त होने वाला बीज अथवा प्लांटिंग मेटेरियल :

मूसली की बिजाई इसके घनकंदों अथवा ट्यूबर्स अथवा फिंगर्स से की जाती है। इस संदर्भ में पूर्व की फसल से निकाले गये कंदों/फिंगर्स का उपयोग भी किया जा सकता है अथवा जंगलों से भी इस प्रकार के कंद एकत्रित किये अथवा करवाये जा सकते है। बीज के लिए ट्यूबर्स अथवा फिंगर्स का उपयोग करते हुए यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि फिंगर्स के साथ पौधे के डिस्क अथवा क्राउन का कुछ भाग अवश्य साथ में लगा रहे अन्यथा पौधे के उगने में परेशानी आ सकती है। इसके साथ–साथ प्रयुक्त किये जाने वाले ट्यूबर अथवा फिंगर का छिलका भी क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार मान लो एक पौधे में 20 फिंगर्स हैं तो उससे 20 बीज बन सकते हैं, परन्तु डिस्क अथवा क्राउन का कुछ भाग सभी के साथ लगा होना चाहिए। यदि कंद छोटे हो तो पूरे के पूरे

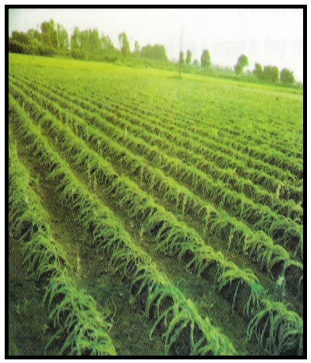

सफेद मूसली की लहलहाती फसल

पौधे का उपयोग भी बिजाई हेतु किया जा सकता है। ऐसा भी किया जा सकता है कि जब फसल उखाड़ी जाये तो पौधे के जो लम्बे–लम्बे अथवा पूर्ण विकसित फिंगर्स अथवा ट्यूबर्स हों उन्हें तो अलग करके तथा छील करके बिक्री के लिए भिजवा दिया जाये तथा जो फिंगर्स छोटे रह गये हों उन्हें बीज के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाये। फिंगर्स तभी तक अलग–अलग किए जा सकते हैं जब तक पौधों में से पत्ते न निकलें अन्यथा इन्हें अलग–अलग करना फायदेमन्द नहीं रहेगा। प्रायः एक ट्यूबर (बीज) का वज़न 0.5 ग्राम से 20 ग्राम तक हो सकता है परन्तु अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः ट्यूबर 5 ग्राम से 10 ग्राम तक के वजन का हो। अच्छी फसल की प्राप्ति के लिए अच्छी गुणवत्ता तथा प्रामाणिक बीज बायोवेद शोध फार्म या विश्वासपात्र शोध संस्थान अथवा सीमैप, लखनऊ से लेना (कम से कम प्रथम फसल के लिए) अत्यावश्यक होता है।

3.1.13 जंगलों से प्राप्त किये जाने वाले बीज :

मूसली एक उच्च मूल्य उत्पाद है इसलिए इसका बीज भी काफी मंहगा होता है। प्रायः बाजार में इसकी कीमत 300 रु0 से 600 रु0 प्रति कि0ग्रा0 तक ली जाती है। एक एकड़ में लगभग 4 से 6 क्विंटल बीज लगेगा अतः बीज की न्यूनतम लागत लगभग 1.5 लाख रु0 आएगी जिसको खरीदना प्रत्येक किसान के लिए संभव नहीं होगा।

इस समस्या का एक हल यह हो सकता है कि पहले वर्ष में किसान जंगलों से मूसली एकत्रित कर लें। प्रायः बरसात के प्रारंभ होते ही मूसली के पौधे उगने लगते हैं जिन्हें बनवासी लोग जंगलों से उखाड़ कर बेचने के लिए बाजारों में लाते हैं। इस प्रकार उनसे ये पौधे खरीद करके इनकी खेतों में ट्रांसप्लांटिंग की जा सकती है। इस प्रकार से जंगल से उखाड़ी हुई मूसली काफी सस्ते दामों (प्रायः 25 रु0 से 100 रु0 प्रति किग्रा0 तक) प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की मूसली को सीधे (पूरे के पूरे पौधे को) खेत में लगा दिया जाता है। क्योंकि यह मूसली अपेक्षाकृत काफी कमजोर होती है, अतः इसे पूर्णतया विकसित होने में समय लग सकता है। इस प्रकार की लगाई गई मूसली से प्रायः पहले साल फसल नहीं ली जाती अथवा इसकी कीमत काफी कम मिलती है। परन्तु अगले वर्ष में ये अच्छी तरह विकसित

हो जाते है तथा अच्छा उत्पादन देने के काबिल हो जाते है। तीसरे वर्ष में तो ये बीज तथा उत्पादन दोनों के लिए तैयार हो जाते है। इस प्रकार जंगल से मूसली के पौधे प्राप्त करके मंहगें बीज की समस्या भी हल की जा सकती है। दूसरा हल यह है कि पहले वर्ष किसान कम मात्रा में मूसली की खेती करें। अपने यहाँ तैयार किये गये बीजों से मूसली की खेती को आगे बढ़ायें। यह सर्वोत्तम तरीका है।

3.1.14 क्या बीजों से भी मूसली की बिजाई की जा सकती है ?

मूसली के पौधे जब लगभग 2 माह से अधिक अवधि के हो जाते हैं तो उन पर पहले फूल तथा बाद में छोटे–छोटे बीज आते हैं जो पकने पर काले रंग के (प्याज के बीजों जैसे) हो जाते हैं। ये बीज काफी छोटे होते है तथा इनका संग्रहण काफी मुश्किल होता है। प्रायः पौधों पर पोलीथीन की थैलियाँ बाँध कर इनका संग्रहण किया जाता है। यद्यपि बीजो से मूसली के पौधे तैयार करने की दिशा में भी शोध कार्य चल रहे हैं परन्तु अभी इस क्षेत्र में ज्यादा सफलता प्राप्त नहीं हो पाई है। बीजों से पौध तैयार करने में एक परेशानी यह भी देखी गई है कि इसमें पौधा तैयार होने में काफी समय (2 वर्ष तथा इससे अधिक भी) लग जाता है तथा पौधे पर्याप्त हृष्ट–पुष्ट भी नहीं हो पाते। अतः अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु तथा कम समयावधि की आवश्यकता को देखते हुए सीधे डिस्क अथवा क्राउन युक्त कंदों/फिंगर्स से बिजाई करना ही सर्वश्रेष्ठ पाया गया है।

सफेद मूसली की बुआई करते कृषक

(अ) प्लांटिंग मेटेरियल की मात्रा

मूसली की बिजाई हेतु 5 से 10 ग्राम वजन की क्राउन युक्त फिंगर्स सर्वाधिक उपयुक्त रहेंगी जिनका 6'' × 6'' की दूरी पर रोपण किया जाता है।

एक एकड़ के क्षेत्र में अधिकतम 80, 000 बीज (क्राउनयुक्त फिंगर्स) लगेगें जिनमें से कुछ बीज 2 ग्राम के भी हो सकते हैं, कुछ 3 ग्राम के, कुछ 3.5 ग्राम के अथवा कुछ 10 ग्राम के। इस प्रकार एक एकड़ के क्षेत्र हेतु लगभग 4 से 6 क्विंटल प्लांटिंग मेटेरियल की आवश्यकता होगी।

(ब) बिजाई से पूर्व प्लाटिंग मेटेरियल का ट्रीटमेण्ट :

लगाये जाने वाले पौधे रोगमुक्त रहें तथा इनके नीचे किसी प्रकार की बीमारी आदि न लगे इसके लिए प्लांटिंग मेटेरियल को लगाने से पूर्व 2 मिनट तक बाबस्टीन के घोल में अथवा एक घंटा गौमूत्र में डुबोकर रखा जाना चाहिए जिससे ये रोगमुक्त हो जाते है।

3.1.15 बिजाई की विधि :

खेत की तैयारी करने के उपरांत 3 से 3.5 फीट चौड़े, जमीन से 1–1) फीट ऊँचे बैड बना लिए जाते है। बरसात प्रारंम्भ होते ही (15 जून से 15 जुलाई के लगभग) इन बैड्स में लकड़ी की सहायता से (जोकि इस कार्य हेतु विशेष रुप से बनाई जा सकती है), कतार से कतार तथा पौधे से पौधा 6 × 6 इंच की दूरी रखते हुए छेद कर लिए जाते हैं। छेद करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि हाल ही में बारिश हुई हो अथवा उसमें पानी दिया गया हो (जमीन गीली होनी चाहिए)। इस प्रकार एक बैड में छः कतारें बन जाती है। फिर इस प्रत्येक छेद में हाथ से एक–एक डिस्क युक्त अथवा क्राउन युक्त फिंगर अथवा सम्पूर्ण पौधे का रोपण कर दिया जाता है। यदि फिंगर बहुत छोटी हो तो 2–2 फिंगर्स को मिलाकर भी रोपण किया जा सकता है परन्तु सभी फिंगर्स में क्राउन का कुछ भाग संलग्न रहना चाहिए। यदि बीज बड़ा हो (5 ग्राम से अधिक हो) तो 6 × 6 इंच वाली दूरी को बढ़ाया भी जा सकता है। रोपण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि फिंगर जमीन में 1 इंच से ज्यादा गहरी न जाये। फिंगर जमीन में सीधी लगाई जानी चाहिए अर्थात् क्राउन वाला भाग ऊपर तथा फिंगर का अंतिम सिरा नीचे। रोपण के उपरान्त इस पर हाथ से ही मिट्टीडाल देनी चाहिए अथवा छेद ऊपर से बंद कर दिया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में प्रायः एक व्यक्ति लकड़ी से आगे–आगे छेद बनाता चलता है तथा दूसरा फिंगर्स का रोपण करता जाता है।

3.1.16 पौधों का उगना तथा बढ़ना :

बिजाई के कुछ दिनों के उपरांत ही पौधा उगने लगता है तथा इसमें पत्ते आने लगते है। इसी बीच फूल तथा बीज आते हैं तथा अक्टूबर–नवम्बर माह में पत्ते अपने आप सूखकर गिर जाते हैं और पौधे के कन्द जमीन के नीचे रह जाते है।

3.1.17 मूसली की फसल से होने वाले उत्पादन की मात्रा :

मूसली की फसल में होने वाले उत्पादन की मात्रा अनेकों कारकों पर आधारित होती है, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इसका बीज ऐसा पाया गया है कि छोटे बीजों से (प्रायः 5 ग्राम से कम वजन वाले बीजों से) प्रायः 4–5 गुना बड़ा कन्द तैयार होता है, (अर्थात् इसमें लगने वाली सभी फिंगर्स को मिलाकर कंद का वजन प्रयुक्त किये गए बीज की तुलना में 4–5 गुना बड़ा होगा) जबकि इससे ज्यादा वजन वाले कन्दों प्रायः 3 गुना बड़ा कन्दों से प्रायः 3 गुना बड़ा कन्द तैयार होता है। 2 ग्राम से लेकर 270 ग्राम तक के कन्द पाये जाते है परन्तु एक अच्छी फसल से औसतन 20–25 ग्राम वज़न वाले कन्द प्राप्त होने है। इसी प्रकार एक पौधे में लगने वाले फिंगर्स की संख्या भी 2 से लेकर 65 तक देखी गई है परन्तु औसतन एक पौधे में 10 से 12 फिंगर्स होना पाया गया है। इस प्रकार ऐसा माना जाता है कि डाले गये बीज की तुलना में मूसली का 5 से 10 गुना ज्यादा उत्पादन होगा।

3.1.18 मूसली की फसल में होने वाली प्रमुख बीमारियाँ तथा प्राकृतिक आपदाऐं :

मूसली की फसल में प्रायः कोई विशेष बीमारी नहीं देखी गयी है अतः इसमें किसी प्रकार के कीटनाशकों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि पौधे का कन्द भूमि में रहता है अतः इस फसल पर किन्हीं प्राकृतिक आपदाओं जैसे ओलावृष्टि आदि का प्रभाव भी नहीं हो पाता। फिर भी कोई रोग होने पर बायोपैकुनिल एवं बायोधन का पर्णीय छिड़काव करना चाहिए। यदि पानी के उचित निकास की व्यवस्था न हो तथा पौधे की जड़ों के पास पानी ज्यादा दिन तक खड़ा रहे, तो पैदावार पर प्रभाव पड़ सकता है तथा कन्द पतले हो सकते है। कवक की बीमारी के कारण सड़ सकते हैं

इसलिए ट्राइकोडरमा 2 से 3 कि.ग्रा. प्रति एकड़ अथवा बायोनीमा 15 कि.ग्रा. प्रति एकड़ का भू प्रयोग करना उचित होगा। वैसे यह पौधा किसी प्रकार की बीमारी अथवा प्राकृतिक आपदाओं के प्रभाव से लगभग मुक्त है।

3.1.19 पतली मूसली की फिंगर्स/टूयबर्स का उत्पादन पर प्रभाव :

मूसली की फसल का प्रमुख उत्पाद उसकी फिंगर्स ही है जिन्हें छीलकर तथा सुखाकर सूखी मूसली तैयार की जाती है, अतः ये फिंगर्स मोटी तथा अधिक से अधिक गूदायुक्त होनी चाहिए ताकि छीलने पर ज्यादा मात्रा में गूदायुक्त फिंगर्स प्राप्त हो सकें (फिंगर्स के पतले होने पर ज्यादा गूदा प्राप्त नहीं होगा) प्रायः भूमि के ज्यादा नर्म (पोला) होने पर फिंगर्स जमीन में ज्यादा गहरी चली जाती है तथा पतली रह जाती है। अतः खेत को तैयार करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि भूमि ज्यादा नर्म (पोली) न हो, दूसरे यदि खुदाई के उपरांत पौधे में ऐसी फिंगर्स निकलती हैं तो उन्हें उत्पादन के रूप में प्रयुक्त करने के बजाय प्लांटिंग मेटेरियल के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाना चाहिए।

3.1.20 जमीन से पौधों/कन्दों को उखाड़ना :

पौधों के पत्ते सूख जाने पर (बिजाई से लगभग 90–95 दिन के उपरांत) ऐसा माना जाता है कि फसल तैयार हो गई है तथा कन्द निकाले जा सकते है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। पत्तों के सूखकर गिर जाने के उपरांत भी एक–दो महीने तक के लिए कन्दों को जमीन में ही रहने दिया जाना चाहिए तथा पत्तों के सूख जाने के उपरांत प्रारंभ में (कच्चे) कन्दों का रंग सफेदी लिए हुए होता है जो कि धीरे–धीरे भूरा होने लगता है। जमीन में जब कन्द पूर्णतया पक जाते हैं तो इनका रंग गहरा भूरा हो जाता है। अतः जबकंदों का रंग गहरा–भूरा हो जाए तो कुदाली की सहायता से एक–एक करके कन्दों को निकाला जा सकता है। प्रायः कंद निकालने का कार्य मार्च–अप्रैल माह में किया जाता है। कंदों को निकालने का कार्य हाथ से ही (ट्रैक्टर आदि से नहीं) करना चाहिए जिससे सभी कन्द बिना क्राउन से अलग हुए निकाले जा सकें तथा जिन कन्दों का उपयोग बीज बनाने हेतु करना हो, वे बीज के रूप में प्रयुक्त किय जा सकें तथा जिनको तोड़कर, छीलकर तथा सुखाकर सूखी मूसली के रूप में बेचा जाना

हो, उन्हें बिक्री हेतु प्रयुक्त किया जा सके।

3.1.21 कंदों को जमीन से उखाड़ने का उपयुक्त समय

कई बार फसल तैयार हो जाने के उपरांत भी किसान को कन्दों को जमीन से उखाड़ना नहीं चाहिए तथा इन्हें जमीन में ही रहने देना चाहिए। ऐसा कई बार चाह कर भी किया जा सकता है अथवा मजबूरी वश भी हो सकता है (उदाहरणार्थ समय पर श्रमिक न मिलें अथवा किसान के पास समय न हो)। परन्तु इसमें कोई ज्यादा परेशानी की बात नहीं होती क्योंकि बरसात में ये कंद (जो उखाड़े नहीं गए थे) जमीन में पड़े–पड़े गल जायेगें तथा अगली बरसात में इनमें से अपने आप नये पौधे निकल आयेंगे। परन्तु इसमें कमी यह रहती है कि अगला पौधा (पिछले कंद की तुलना में जो जमीन में ही गल गया था) की तुलना में मात्रा 50 से 100 प्रतिशत तक ही बढ़ पाता है। उदाहरणार्थ यदि पहला कंद 10 ग्राम का था तो यह एक साल के उपरांत यह मात्रा 15 से 20 ग्राम तक ही हो पाएगा जबकि यदि इसे उखाड़ कर लगाया जाता है तो इसमें 3 से 4 गुना की बढ़ोत्तरी हो जाती। फिर भी यह तय है कि यदि कंद न भी उखाड़ा जाये तो उसमें कोई हानि नहीं होगी तथा इसमें प्रतिवर्ष अपने आप कुछ न कुछ वृद्धि होती रहेगी। ऐसी वृद्धि प्रायः सात साल तक देखी गई है तथा सात साल के बाद इन कंदों का बढ़ना रुक जाता है।

3.1.22 कंदों की धुलाई :

जमीन से कंद उखाड़ने पर उनके साथ मिट्टी आदि लगी रहती है अतः छीलने से पूर्व उन्हें धोया जाना आवश्यक होता है। इस संदर्भ में उखाड़े हुए कंदों की टोकरियों को पानी के बहाव के नीचे रखकर कंदों की धुलाई की जा सकती है। इसके उपरांत धुले हुए कंदोंकी छिलाई की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

3.1.23 मूसली के कंदों की छिलाई :

जिन कंदों का उपयोग बीज हेतु करना हो, उन्हें छोड़कर शेष मूसली को विपणन हेतु भिजवाने से पूर्व उसके कंदों/ट्यूबर्स/फिंगर्स की छिलाई करना अथवा उनका छिलका उतारना अत्यावश्यक होता है ताकि छिलका उतारने पर यह अच्छी तरह से सूख जाए तथा इसे बिक्री हेतु प्रस्तुत किया

जा सके। यद्यपि यह कार्य अत्याधिक आसान है तथा अकुशल श्रमिक/बच्चे भी इसे कर सकते है परन्तु यह काफी अधिक श्रमसाध्य है तथा इसमें काफी समय लगता है, क्योंकि मूसली के प्रत्येक कंद/फिंगर को छीलना पड़ता है। वर्तमान में मूसली की छिलाई हेतु प्रचलित प्रमुख विधियाँ निम्नानुसार हैं–

(क) पत्थर से घिसाई :

प्रायः परम्परागत रुप से जंगलों से एकत्रित की जाने वाली मूसली का छिलका उतारने हेतु मूसली को पत्थर से घिसा जाता है जिससे उसका छिलका उतर जाता है। परन्तु यह विधि ज्यादा उपयुक्त नहीं है, क्योंकि (1) पत्थर से घिसने पर मूसली में से कई बार छिलके के साथ काफी ज्यादा मात्रा में गूदा निकल जाता है जिससे अनावश्यक हानि होती है, (2) कई बार मूसली के कुछ एक स्थानों पर गूदा साथ ही रह जाता है जिससे उत्पाद की गुणवत्ता प्रभावित होती है, (3) इस प्रकार से छिली हुई मूसली की बाजार में माँग भी प्रायः कम रहती है।

(ख) मूसली को गीला करके उसका छिलका उतारना :

प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ जंगलों से मूसली एकत्रित की जाती है, कच्ची मूसली को जंगल से उखाड़ने के उपरान्त उनका ढेर लगा दिया जाता है तथा उन पर प्रतिदिन पानी का हल्का–हल्का छिड़काव किया जाता है। कुछ समय के उपरान्त यह मूसली या तो स्वयं ही छिलका छोड़ने लगती है या इसे आसानी से मसल कर छिलका निकाल दिया जाता है। यह विधि विशेष रूप से जंगलोंसे उखाड़ी हुई कच्ची मूसली का छिलका उतारने के लिए उपयोगी हो सकती है। परन्तु इस विधि से पूर्णतया पकी हुई मूसली से छिलका उतारने का सुझाव देना शायद उपयुक्त नहीं होगा।

(ग) चाकू से छिलाई :

पत्थर पर घिसाई की बजाए चाकू से मूसली की छिलाई करना ज्यादा सुविधा जनक होता है। इसमें वेस्टेज भी कम होता है तथा इससे उत्पाद भी अच्छी गुणवत्ता का तैयार होता है। यह विधि काफी आसान भी है तथा कोई भी अकुशल मजदूर भी ऐसी छिलाई का कार्य कर सकता है। यहाँ तक कि बच्चे भी यह कार्य कर सकते है। इस प्रकार एक दिन में एक व्यक्ति लगभग 1 किलोग्राम से 5 किग्रा0 तक मूसली छील लेता है।

निःसंदेह छिलाई का कार्य काफी श्रमसाध्य कार्य है परन्तु यह कार्य हाथ से ही किया जाता है तथा इसका अभी कोई विकल्प उपलब्ध नहीं हो पाया है। यद्यपि इस संदर्भ में किन्हीं रसायनों के प्रयोग पर शोध चल रहा है जिनमें मूसली को भिगोने पर इसका छिलका स्वतः ही निकल सके परन्तु ऐसा अभी व्यवहारिक नहीं हो सका है। इस प्रकार के रसायनों के उपयोग से मूसली के औषधीय गुण भी प्रभावित होना संभावित हैं अतः इस दिशा में अभी विशेष प्रगति नहीं हो पाई है तथा अच्छी गुणवत्ता की सूखी मूसली प्राप्त करने हेतु अभी तक हाथ से छिलाई करना ही सर्वश्रेष्ठ विधि मानी जा रही है। इसकी छिलाई हेतु मशीन बनाने की दिशा में भी कार्य चल रहा है परन्तु अभी तक इस संदर्भ में कोई सफलता नहीं मिल पाई है।

3.1.24 छिली हुई मूसली को सुखाना :

छीलने के उपरांत छिली हुई मूसली को सुखाया जाता है ताकि उसमें उपस्थित नमी पूर्णतया सूख जाए। ऐसा प्रायः छिली हुई मूसली को धूप में डालकर किया जाता है। प्रायः दो–तीन दिन तक खुली धूप में रखने से मूसली में उपस्थित नमी पूर्णतया सूख जाती है।

सफेद मूसली के कंद

3.1.25 मूसली की पैकिंग :

सूखी हुई मूसली को विपणन हेतु प्रस्तुत करने से पूर्व उसकी विधिवत् पैकिंग की जाती है। यह पैकिंग प्रायः पॉलीथीन की थैलियों में की जाती है ताकि यह सुरक्षित रह सके तथा इस पर किसी प्रकार से नमी आदि का प्रभाव न पड़े।

3.1.26 जमीन से उखाड़ने से लेकर सुखाने तक में मूसली के वजन में कमी :

जमीन से उखाड़ने के उपरांत मूसली की छिलाई करने तथा उसे सुखाने की प्रक्रिया में मूसली के वजन में अंतर होना स्वभाविक है परन्तु

सूखने के उपरान्त बचने की मात्रा मूसली के फिंगर्स की मोटाई **(मांसलता)** पर ज्यादा निर्भर करती है क्योंकि कुछ फिंगर्स ज्यादा मोटी होती है जबकि अन्य पतली होती है। यदि फिंगर्स ज्यादा मोटी होगी तो छिलाई के उपरांत अंततः सूखने पर इनका वजन उन फिंगर्स की अपेक्षा अधिक रहेगा जो पतली फिंगर्स को छीलने तथा सुखाने के उपरांत प्राप्त होगी। वैसे इसे छीलने तथा सुखाने की प्रक्रिया में ताजी मूसली (खेत से उखाड़ी हुई मूसली) का लगभग 20 से 25 प्रतिशत तक सूखी मूसली के रूप में प्राप्त होता है।

3.1.27 आगामी फसल हेतु मूसली के बीज का संग्रहण कैसे किया जाए ?

मूसली के कंदों की खुदाई के उपरांत कंदों के साथ लगी हुई बड़ी फिंगर्स को तोड़कर, छीलकर तथा सुखाकर बिक्रय किया जा सकता है जबकि शेष बची हुई क्राउन सहित फिंगर्स, जो प्रायः आकार में छोटी होती है, का उपयोग बीज के रूप में किया जा सकता है। क्योंकि ये कंद मार्च–अप्रैल माह में निकाले जाते हैं तथा इन्हें मई–जून तक सुरक्षित रखा जाना आवश्यक होता है (क्योंकि इनकी बिजाई मई–जून में ही होगी) अतः तब तक के लिए इनका भण्डारण सावधानीपूर्ण करना आवश्यक होता है। इन कंदों को कोल्ड स्टोरेज में रखना भी ज्यादा उपयुक्त नहीं पाया गया है क्योंकि इससे पौधों का उगाव प्रभावित होता है। यद्यपि यदि बीजों के संग्रहण के लिए एक विशेष चैम्बर बनाया जा सके जिसमें 70 से 80 अंश तक आर्द्रता स्थिर की जा सके तो यह सर्वश्रेष्ठ होगा परन्तु सभी किसानों के लिए ऐसा मँहगा चैम्बर बना पाना संभव नहीं हो पाता। अतः कम लागत में इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित किये जाने की दिशा में शोध कार्य चल रहे है। वैसे इन कंदों को एक छाया वाले स्थान में एक गढ्डे में रखकर ऊपर से मिट्टी डालकर सुरक्षित रखे जाने हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

3.1.28 सागौन, पापुलर अथवा पपीते के साथ अंर्तवर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती

यद्यपि मूसली अपने आप में इतनी अधिक लाभकारी फसल है कि इसकी खेती मुख्य फसल के रूप में ही की जानी चाहिए परन्तु अंर्तवर्तीय फसल के रूप में भी इसकी खेती काफी सफलतापूर्वक की जा सकती है। अभी कई कृषकों द्वारा सागौन के बीचों–बीच मूसली की खेती करके प्रारंभिक वर्ष में ही (बिना कोई विशेष खर्च किये) लाभ कमाया जा सकता है। पपीते के साथ भी अंर्तवर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती की जा सकती है। इस संदर्भ में विशेषज्ञों का विचार है कि टीक के बीचों–बीच 1. 5 फीट के दायरे में मूसली के 11 पौधे रोपित कर दिये जायें तथा इन पर मिट्टी चढ़ा कर इन्हें 18 महीने तक पड़ा रहने दिया जाए (प्रथम वर्ष में न निकाला जाए)। यदि ड्रिप अथवा स्प्रिंकलर्स से इनकी सिंचाई व्यवस्था हो सके तो यह और भी ज्यादा लाभकारी होगा। ऐसी जगह में से घास आदि निकालने की भी आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार 18 महीने के उपरांत बिना किसी अतिरिक्त खर्च के मूसली के पौधों में स्वतः ही 4 से 5 गुना बढ़ोत्तरी हो जाएगी। इस प्रकार टीक, नींबू, पपीता, पोपुलर आदि के साथ अंतवर्तीय फसल के रूप में मूसली की खेती करना व्यवसायिक रूप से काफी लाभकारी हो सकता है।

3.1.29 मूसली का उत्पादन तथा इसकी खेती से अनुमानित लाभ

प्रायः एक एकड़ क्षेत्र में मूसली के लगभग 80,000 पौधे लगाए जाते है। यदि इनमें से 70,000 अच्छे पौधे भी अंत में बचते हैं जिनमें एक पौधे का औसतन वजन 30 ग्राम होता है तो किसान को लगभग 2100 किलोग्राम मूसली प्राप्त होगी जो कि छीलने तथा सूखने के उपरांत लगभग 4 क्विंटल रह जाएगी (सूखने पर मूसली का वजन 20 से 25 प्रतिशत रह जाता है)। इसके अतिरिक्त इसमें एक एकड़ की बिजाई हेतु प्लांटिंग मेटेरियल भी बच जाएगा। वैसे जो लोग मूसली की वास्तविक रूप से खेती कर रहे है वं प्रति एकड़ औसतन 3 से 5 क्विंटल सूखी मूसली की पैदावार होना बताते हैं जबकि विशेषज्ञों का विचार है कि यदि मूसली की फसल वैज्ञानिक ढंग से सही रूप से ली जाए तो इससे प्रति एकड़ 16 क्विंटल तक सूखी मूसली प्राप्त हो सकती है। यदि वर्तमान बाजार मूल्य (जो कि 1000 रुपये से 1700 रुपये प्रति किलोग्राम तक है), के अनुसार देखा जाए तो प्राप्त 4 क्विंटल सूखी मूसली से औसतन 5 लाख रुपये की प्राप्तियाँ होगी। मूसली को छीलने के उपरान्त इसकी गुणवत्ता के अनुसार ग्रेडिंग की जाती है जिसमें

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. सफेद मूसली की बोई जाने वाली उपयुक्त प्रजाति का नाम?
2. सफेद मूसली के लिये उपयुक्त भूमि कौन सी है?
3. सफेद मूसली की बुवाई का उपयुक्त समय कौन सा है?
4. सफेद मूसली की बुवाई के प्रति हैक्टर कन्द की आवश्यकता पड़ती है?
5. किस माह में इसके पत्ते सूखकर गिर जाते हैं?
6. सफेद मूसली में पाये जाने वाले औषधीय रसायन कौन सा है?
7. सफेद मूसली कितने माह में तैयार हो जाती है?
8. रोग से बचाव के लिए बुवाई से पूर्व किस रसायन से कन्द को शोधित करना चाहिए?
9. ताजी मूसली को छीलने तथा सुखाने के उपरान्त कितना प्रतिशत शेष बचता है?
10. सफेद मूसली से प्राप्त अनुमानित शुद्ध लाभ कितना होता है?

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

1. सफेद मूसली की विभिन्न प्रजातियाँ बताइये तथा इसके औषधीय उपयोग का वर्णन कीजिए।
2. सफेद मूसली की बुवाई की विधि का विस्तार से वर्णन करें।
3. सफेद मूसली की आर्थिकी का वर्णन करें।

❖❖

3.2 अश्व के समान शक्ति प्रदान करने वाला औषधीय पौधा :

अश्वगंधा (*Withania somifera* Dunal)

3.2.1 भूमिका

अश्वगंधा (असगंध) जिसे अंग्रेजी में विन्टर चैरी कहा जाता है तथा जिसका वैज्ञानिक नाम विदानिया सोम्नीफेरा (*Withania somnifera*) है, भारत में उगाई जाने वाली महत्वपूर्ण औषधीय फसल है जिसमें कई तरह के एल्केलॉइड्स पाये जाते है। अश्वगंधा को शक्तिवर्धक माना जाता है। भारत के अलावा यह औषधीय पौधा स्पेन, फेनारी आईलैण्ड, मोरक्को, जार्डन, मिस्र, पूर्वी अफ्रीका, बलुचिस्तान (पाकिस्तान) और श्रीलंका में भी पाया जाता है। भारतवर्श में यह पौधा मुख्यतयः गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा के मैदानों, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक, केरल एवं हिमालय में 1500 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है। मध्य प्रदेश में इस पौधे की विधिवत् खेती मन्दसौर जिले की भानपुरा, मनासा, एवं जादव तथा नीमच जिले में लगभग 3000 हेक्टेयर क्षेत्रफल में की जा रही है।

अश्वगंधा के पौधे 1 से 4 फीट तक ऊँचे होते है। इसके ताजे पत्तों तथा इसकी जड़ को मसल कर सूँघने से उनमें घोड़े के मूत्र जैसी गंध आती है। संभवतः इसी वजह से इसका नाम अश्वगंधा पड़ा होगा। इसकी जड़ मूली जैसी परन्तु उससे काफी पतली (पेन्सिल की मोटाई से लेकर 2.5 से 3.75

से0मी0 मोटी) होती है तथा 30 से 45 से0मी0 तक लम्बी होती है। यद्यपि यह जंगली रूप में भी मिलती है परन्तु उगाई गई अश्वगंधा ज्यादा अच्छी होती

है।

अश्वगंधा में विथेनिन और सोमेनीफेरीन एल्केलाईड्स पाए जाते हैं जिनका उपयोग आयुर्वेद तथा यूनानी दवाइयों के निर्माण में किया जाता है। इसके बीज, फल, छाल एवं पत्तियों को विभिन्न शारीरिक व्याधियों के उपचार में प्रयुक्त किया जाता है। आयुर्वेद में इसे गठिया के दर्द, जोड़ों की सूजन, पक्षाघात तथा रक्तचाप आदि जैसे रोगों के उपचार में इस्तेमाल किए जाने की अनुशंसा, की गई है। इसकी पत्तियाँ त्वचारोग, सूजन एवं घाव भरने में उपयोगी होती हैं। विथेनिन एवं सोमेनीफेरीन एल्केलाइड्स के अलावा निकोटीन सोमननी विथनिनाईन एल्केलाइड भी इस पौधे की जड़ों में पाया जाता है। अश्वगंधा पर आधारित शक्तिवर्धक औषधियाँ बाजार में टेबलेट, पावडर एवं कैप्सूल फार्म में उपलब्ध हैं। इन औषधियों को भारत की समस्त अग्रणी आयुर्वेदिक कम्पनियों द्वारा शक्तिवर्धक कैप्सूल या टेबलेट फार्म में विभिन्न ब्राण्डों जैसे वीटा–एक्स गोल्ड, शिलाजीत, रसायन वटी, थ्री–नॉट–थ्री, थर्टीप्लस, एनर्जिक–31 आदि के रूप में विक्रय किया जाता है। इन औषधियों में लगभग 5–10 मिलीग्राम अश्वगंध पावडर का उपयोग एक कैप्सूल या टेबलेट में किया जाता है। जिसका बाजार विक्रय मूल्य 10 से 15 रूपये प्रति कैप्सूल होता है, जबकि अश्वगंधा की तैयार फसल का विक्रय मूल्य मात्रा 40.00 रूपये से 80.00 रूपये प्रति किलो तक मिलता है। अर्थात् अश्वगंधा फसल के बिक्री मूल्य की तुलना में अश्वगंधा से तैयार औषधि का विक्रय मूल्य लगभग दस गुना अधिक होता है। मध्यप्रदेश में उत्पन्न होने वाली समस्त अश्वगंधा की फसल स्थानीय मण्डियों के माध्यम से न्यूनतम 4000 रूपये प्रति क्विंटल पर अन्य प्रदेशों में स्थापित औषधि निर्माण कम्पनियों को भेजी जाती है। मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले में स्थापित एक कम्पनी द्वारा औषधि का निर्माण न करते हुए केवल अश्वगंधा पावडर को तैयार करके ही बड़ी कम्पनियों को बेचा जाता है। मध्यप्रदेश में अश्वगंधा का इतने व्यापक स्तर पर उत्पादन किया जा रहा है कि यहाँ पर अश्वगंधा पर आधारित औषधियों को निर्मित करने अथवा अश्वगंधा का पावडर तैयार करने की इकाइयाँ स्थापित करने की भी व्यापक संभावना है। इसके साथ–साथ इसकी व्यवसायिक खेती को भी एक लाभकारी स्वरोजगार के रूप में अपनाया जा सकता है।

3.2.2 उद्देश्य : अश्वगंधा की खेती से जुड़ी पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराना।

3.2.3 अश्वगंधा के औषधीय उपयोग : अश्वगंधा का प्रत्येक भाग–जड़ें, पत्ते, फल, बीज आदि औषधीय उपयोग हेतु प्रयुक्त किया जाता है परन्तु सर्वाधिक औषधीय उपयोग इसकी जड़ों के हैं तथा बाजार में सर्वाधिक मांग भी इसकी जड़ों की ही है। वस्तुतः एक टॉनिक के रूप में इसकी जड़ें प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बच्चे हों या वृद्ध, सबके लिए उपयोगी होती है। अश्वगंधा की जड़ के चूर्ण का तीन महीने तक सेवन करने से कमजोर बच्चों के शरीर का सही विकास होता है तथा उनका शरीर हृष्टपुष्ट बनता है। सामान्य व्यक्ति द्वारा लेने पर उनके शरीर में स्फूर्ति, शक्ति, चैतन्यता तथा कांति आ जाती है। इसी प्रकार यह सभी प्रकार के वीर्य विकारों को मिटा करके बल–वीर्य बढ़ाता है तथा धातुओं को पुष्ट करता है। इसके सेवन से शरीर का दुबलापन मिटता है तथा यह मांसवर्धन का कार्य भी करता है। यह नस–नाड़ियों को तो सुसंगठित करता ही है परंतु इसके सेवन से मोटापा नहीं आता। गठिया, धातु, मूत्र तथा पेट के रोगों के निवारण में इसने अपनी उपयोगिता सर्वत्र सिद्ध की है। खांसी, श्वास तथा खुजली के उपचार में भी यह उपयोगी पाया गया है। इसके नियमित सेवन से व्यक्ति में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, उसे लंबे समय तक चिरयौवन की प्राप्ति होती है तथा वृद्धावस्था के रोग व्यक्ति से काफी समय तक दूर रहते हैं। महिलाओं की बीमारियों में भी यह काफी उपयोगी पाया गया है। इसके नियमित उपयोग से नारी की गर्भधारण क्षमता

अश्वगंधा का पूर्ण विकसित पौधा

बढ़ती है, प्रसवोपरांत उनमें दूध की वृद्धि होती है तथा उनकी श्वेत प्रदर, कमरदर्द एवं सामान्य शारीरिक कमजोरी आदि से जुड़ी समस्त समस्याएं दूर होती हैं।

अश्वगंधा के चिकित्सीय उपयोगों के वैज्ञानिक परिणाम जानने हेतु कई शोधकर्ताओं ने विभिन्न रोगों के उपचारों हेतु इसका उपयोग किया है। इनमें से डॉ. कुप्पुराजन तथा उनके सहयोगियों ने वर्ष 1980 में 50 से 60 वर्ष के बीच के पुरुषों पर अश्वगंधा का प्रभाव देखने के उद्देश्य से उन्हें एक वर्ष तक अश्वगंधा के मूल का एक–एक ग्राम चूर्ण दिन में तीन बार एक वर्ष तक दिया। इस एक वर्ष के अध्ययन में उन्होंने पाया कि जिन व्यक्तियों को अश्वगंधा चूर्ण दिया गया था उनके हिमोग्लोविन तथा लाल रक्त कणों की संख्या में उन व्यक्तियों की तुलना में जिन्हें अश्वगंधा चूर्ण नहीं दिया गया था, उल्लेखनीय सुधार देखा गया। रक्त से संबंधित इन सुधारों के साथ–साथ इन व्यक्तियों के बालों का कालापन भी बढ़ा, उनकी झुकी हुई कमर की हालत में भी सुधार हुआ तथा उनके खड़े होने का तरीका भी सुधरा। अश्वगंधा के सेवन से इन व्यक्तियों का सीरम कालेस्ट्रॉल भी कम हुआ। इसी प्रकार विद्या प्रभु तथा उनके सहयोगियों नें वर्ष 1990 में पाया कि अश्वगंधा के सेवन से व्यक्ति की सामान्य बुद्धि का विकास होता है जबकि उमा देवी तथा उनके सहयोगियों ने 1993 में पाया कि अश्वगंधा कैंसर से लड़ने की क्षमता विकसित करता है। वर्ष 1982 में किए गए एक अध्ययन में बी.पी.शॉ एवं एल. एन. मैती ने अमलपित्त पर अश्वगंधा का प्रभाव जानने हेतु ऐसे 91 व्यक्तियों को अश्वगंधा का सेवन करवाया गया जो गैस्ट्राइटस, एसिडिटी तथा अल्सर से पीड़ित थे। इस अध्ययन के अंतर्गत इन व्यक्तियों को अश्वगंधा तथा मुलैठी का नियमित सेवन करवाने पर यह पाया गया कि इससे इन व्यक्तियों की गैस्ट्राइटस, एसिडिटी तथा अल्सर जैसे समस्याओं में उल्लेखनीय सुधार हुआ। इससे पूर्व वर्ष 1977 में श्री एस.पी. सिंह तथा उनके सहयोगियों ने अपने शोधकार्य में पाया कि अश्वगंधा दर्दनाशक होने के साथ–साथ जोड़ों के दर्द के उपचार में भी लाभकारी है तथा इसमें सूजन कम करने के गुण भी पाए जाते हैं। अश्वगंधा के सेवन से उत्तेजना तथा अवसाद भी कम होते हैं। ये निष्कर्ष एक महत्वपूर्ण अध्ययन 1979 में श्री आर.एच. सिंह ने एक बड़े समूह

पर किए गए प्रयोगों के आधार पर निकाले।

उच्च रक्तचाप पर अश्वगंधा का क्या प्रभाव पड़ता है यह जानने के लिए कई शोध कार्य हो चुके हैं परन्तु इस संदर्भ में श्री सी.एल. मल्होत्रा तथा उनके सहयोगियों द्वारा वर्ष 1962 तथा 1965, एवं श्री अहमादा एफ द्वारा वर्ष 1990 में किए गए अध्ययन अपेक्षाकृत ज्यादा व्यवस्थित थे। इन दोनों ही शोधकर्त्ताओं ने यह पाया कि अश्वगंधा के सेवन से विभिन्न समूहों के उच्च रक्तचाप में उल्लेखनीय कमी आई। इसी प्रकार एस.लक्कड़ ने वर्ष 1981 में घुटने के अस्थिसंधि रोग (Osteoarthitis) से पीड़ित एक समूह को एक निश्चित अवधि तक अश्वगंधा का सेवन करवाने पर यह पाया कि समूह में से 61 प्रतिशत व्यक्तियों को इससे काफी अधिक लाभ हुआ। महिलाओं की बीमारियों के उपचार में अश्वगंधा के सेवन का प्रभाव जानने हेतु ई. राज्यलक्ष्मी ने वर्ष 1980 में महिलाओं के एक समूह के साथ किए गए एक अध्ययन में यह पाया कि ल्यूकोरिया से पीड़ित जिन महिलाओं को अश्वगंधा का सेवन करवाया गया था उनमें से 80 प्रतिशत महिलाओं की ल्यूकोरिया की समस्या पूर्णतया समाप्त हो गई तथा काफी समय तक यह दोबारा नहीं देखी गयी। इस प्रकार जहां विभिनन बीमारियों के उपचार में अश्वगंधा की उपयोगिता पाई गई है वहीं वैज्ञानिक रूप से संचालित किए गए अध्ययनों एवं शोधकार्यों में भी यह सिद्ध हो चुका है कि अश्वगंधा के नियमित सेवन से हिमोग्लोविन तथा लाल रक्त कणों की संख्या में वृद्धि होती है; इससे दुर्बलता दूर होती है; सामान्यतः व्यक्ति की बुद्धि का विकास होता है; कैन्सर से लड़ने की क्षमता विकसित होती है; गैस्ट्राइटस, एसिडिटी, अल्सर में

सुधार होता है तथा स्त्रियों की बीमारियों विशेषतया ल्यूकोरिया से निजात मिलती है। इस प्रकार अश्वगंधा एक अत्यधिक उपयोगी औषधीय पौधा है जिसकी राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ती जा रही मांग की पूर्ति इसकी

वृहद स्तर पर खेती करके ही की जा सकती है।

3.2.4 अश्वगंधा की खेती की विधि :

अश्वगंधा मूलतः शुष्क प्रदेशों का औषधीय पौधा है। संभवतया यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वर्तमान में जिन औषधीय पौधों की खेती काफी बड़े स्तर पर हो रही है उनमें अश्वगंधा अपना प्रमुख स्थान रखता है। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में हमारे देश के विभिन्न भागों में लगभग 4000 हैक्टेयर के क्षेत्र में इसकी खेती हो रही है जिसके कई गुना अधिक बढ़ाए जा सकने की संभावनाएं हैं। वर्तमान में इसकी व्यापक स्तर पर खेती मध्य प्रदेश के विभिन्न भागों के साथ–साथ राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि राज्यों में होने लगी है। इन क्षेत्रों में हुए किसानों के अनुभवों के आधार पर अश्वगंधा की कृषि तकनीक निम्नानुसार समझी जा सकती है–

3.2.5 अश्वगंधा का जीवन चक्र :

अश्वगंधा एक बहुवर्षीय पौधा है तथा यदि इसके लिए निरंतर सिंचाई आदि की व्यवस्था होती रहे तो यह कई वर्षों तक चल सकता है परंतु इसकी खेती एक 6–7 माह की फसल के रूप में ली जा सकती है। प्रायः इसे देरी की खरीफ (सितम्बर माह) की फसल के रूप में लगाया जाता है तथा जनवरी–फरवरी माह में इसे उखाड़ लिया जाता है। इस प्रकार इसे एक 6–7 माह की फसल के रूप में माना जा सकता है जिसकी बिजाई का सर्वाधिक उपयुक्त समय सितम्बर का महीना होता है।

3.2.6 उपयुक्त जलवायु :

अश्वगंधा शुष्क एवं समशीतोष्ण क्षेत्रों का पौधा है। इसकी सही बढ़त के लिए शुष्क मौसम ज्यादा उपयुक्त होता है। प्रायः इसे अगस्त–सितम्बर माह में लगाया जाता है तथा फरवरी माह में इसे उखाड़ लिया जाता है। इस दौरान इसे दो या तीन हल्की सिंचाईयों की आवश्यकता होती है। यदि शीत ऋतु के दौरान 2–3 बारिशें निश्चत अंतराल पर पड़ जाएं तो अतिरिक्त सिंचाई की आवश्यकता नहीं रहती तथा फसल भी अच्छी हो जाती है। वैसे इस फसल को ज्यादा सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती तथा यदि बिजाई के समय भूमि में उचित नमी (उगाव के लिए) हो तथा पौधों के उगाव के बाद बीच में (पौधे उगने के 35–40 दिन बाद) यदि एक बारिश/सिंचाई हो सके

तो इससे अच्छी फसल प्राप्त होने की अपेक्षा की जा सकती है।

अश्वगंधा के लगते फूल व फल

3.2.7 भूमि का प्रकार : एक जड़दार फसल होने के कारण अश्वगंधा की खेती उन मिट्टियों में ज्यादा सफल हो सकती है जो नर्म तथा पोली हों ताकि इनमें फसल की जड़ें ज्यादा गहराई तक जा सकें। इस प्रकार रेतीली दोमट मिट्टियां तथा हल्की लाल मिट्टियां इसकी खेती के लिए उपयुक्त मानी जाती हैं प्रायः 5.6 से 8.5 पी.एच तक की मिट्टियों में इसकी सही बढ़त होती है तथा इनसे उत्पादन भी काफी अच्छा मिलता है। यह भूमि ऐसी होनी चाहिए जिसमें से जल निकास की समुचित व्यवस्था हो तथा पानी भूमि में न रुकता हो। अश्वगंधा की खेती के संदर्भ में यह बात विशेष रूप से देखी गई है कि यह भारी मृदाओं की अपेक्षा हल्की मृदाओं में ज्यादा उत्पादन देती है। प्रायः देखागया है कि भारी मृदाओं में पौधे तो काफी बड़े–बड़े हो जाते हैं (हर्बेज बढ़ जाती है) परंतु जड़ों का उत्पादन अपेक्षाकृत कम ही मिलता है। इस प्रकार अश्वगंधा की खेती के लिए कम उपजाऊ, उचित जल निकास वाली, रेतीली–दोमट अथवा हल्की लाल रंग की मिट्टी जिसमें पर्याप्त जीवांश की मात्रा हो, उपयुक्त मानी जाती है।

3.2.8 अश्वगंधा की प्रमुख उन्नतशील किस्में : अश्वगंधा की मुख्यतया दो किस्में ज्यादा प्रचलन में हैं जिन्हें ज्यादा उत्पादन देने वाली किस्में माना जाता है ये किस्में हैं– जवाहर असगंध–20, जवाहर असगंध–134 तथा डब्ल्यू. एस.–90–100, वैसे वर्तमान में अधिकांशतः जवाहर असगंध–20 किस्म किसानों में ज्यादा लोकप्रिय है।

3.2.9 अश्वगंधा की रासायनिक संरचना : अश्वगंधा में अनेकों प्रकार के एल्केलाइड्स पाए जाते हैं जिनमें मुख्य हैं– विथानिन तथा सोमनीफेरेन। इनके

अतिरिक्त इनके पत्तों में पांच एलकेलाइड्स (कुल मात्रा 0.09 प्रतिशत) भी पाए जाने की पुष्टि हुई है, हालांकि अभी उनकी सही पहचान नहीं हो पाई है। इनके साथ–साथ विदानोलाइड्स, ग्लायकोसाइड्स, ग्लूकोज तथा कई अमीनों एसिड्स भी इनमें पाए गए हैं। क्लोनोजेनिक एसिड, कन्डेन्स्ड टैनिन तथा फ्लेवेलनायड्स की उपस्थिति भी इसमें देखी गई है।

अश्वगंधा का मुख्य उपयोगी भाग इसकी जड़ें होती हैं। भारतीय परिस्थितियों में प्राप्त होने वाली अश्वगंधा की जड़ों में 0.13 से 0.31 प्रतिशत तक एल्केलाइड्स पाए जाते हैं (जबकि किन्हीं दूसरी परिस्थितियों में इनकी मात्रा 4.3 प्रतिशत तक भी देखी गई है) इसकी जड़ों में से जिन 13 एल्केलाइड्स को पृथक किया जा सकता है, वे हैं– कोलीन, ट्रोपनोल, सूडोट्रोपनोल, कुसोकाइग्रीन, 3–ट्रिगलोज़ाइट्रोपाना, आइसोपैलीटरीन, एनाफ्रीन, एनाहाइग्रीन, विदासोमनाइन तथा कई अन्य स्ट्रायोयडल लैक्टोन्स। एल्केलाइड्स के अतिरिक्त इसकी जड़ों में स्टॉर्च, रीड्यूसिंग सुगर्म, हैन्ट्रियाकोन्टेन, ग्लाइकोसाइड्स, डुल्सिटॉल, विदानिसिल, एक अम्ल तथा एक उदासीन कम्पाउन्ड भी पाया जाता है

3.2.10 बिजाई से पूर्व खेत की तैयारी : यद्यपि वर्तमान में अश्वगंधा की खेती कर रहे अधिकांश किसानों द्वारा इस फसल के संदर्भ में कोई विशेष तैयारी नहीं की जाती तथा इसे एक ''नॉनसीरियस'' फसल के रूप में लिया जाता है, परंतु व्यवसायिकता तथा अधिकाधिक उत्पादन की दृष्टि से यह आवश्यक होगा यदि सभी कृषि क्रियाएं व्यवस्थित रूप से की जाए। इसके लिए सर्वप्रथम जुलाई–अगस्त माह में एक बार आड़ी–तिरछी जुताई करके खेत तैयार कर लिया जाता है। तदुपरांत प्रति एकड़ एक से दो ट्राली गोबर खाद डालना फसल की अच्छी बढ़त के लिए उपयुक्त

अश्वगंधा के बीज

रहता है। यद्यपि अश्वगंधा की फसल को खाद की अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती परंतु फिर भी 1 से 2 टन प्रति एकड़ तो खाद डालनी ही चाहिए। हां यदि पूर्व में ली गई फसल में ज्यादा खाद डाला गया हो तो इसके पूर्वावशेष (रैसीड्यूज़) से भी काम चलाया जा सकता है। खाद खेत में मिला दिए जाने के उपरान्त खेत में पाटा चला दिया जाता है।

3.2.11 बिजाई की विधि

अश्वगंधा की बिजाई दोनों प्रकार से की जा सकती है– (क) सीधी खेत में बुआई तथा (ख) नर्सरी बनाकर पौधों को खेत में ट्रांसप्लांट करना। इन दोनों विधियों के विवरण निम्नानुसार हैं–

(क) सीधी खेत में बिजाई : सीधी खेत में बिजाई करने के विधि में मुख्यतया दो प्रक्रियाएं अपनाई जाती हैं– (क) छिटकवां विधि तथा लाइन से बिजाई। ज्यादातर किसान इनमें से छिटकवां विधि अपनाते हैं। क्योंकि अश्वगंधा के बीज काफी हल्के होते हैं अतः इनमें पांच गुना बालू रेत मिला ली जाती है। तदुपरांत खेत में हल्का हल चला करके अश्वगंधा बालू मिश्रित बीजों को खेत में छिड़क दिया जाता है तथा ऊपर से पाटा दे दिया जाता है। एक एकड़ के लिए 5 कि.ग्रा. बीज पर्याप्त होते हैं।

अश्वगंधा के पके सूखे फल | अश्वगंधा के सूखे कच्चे फल

लाइन से बिजाई करने की दशा में गेहूं अथवा सोयाबीन की बिजाई की तरह सीड ड्रिल, देशी हल अथवा दुफन से बिजाई की जाती है। दोनों में से विधि चाहे जो भी अपनाएं परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि बीज जमीन में ज्यादा गहरा (3 से 4 से.मी. से ज्यादा गहरा नहीं) न जाए। इस विधि से

बिजाई करने पर लाइन से लाइन की दूरी 30 से.मी. तथा पौधे तथा पौधे से पौधे की दूरी 4 से.मी. रखनी उपयुक्त रहती है।

(ख) नर्सरी बनाकर खेत में पौधे लगाना : इस विधि से बिजाई करने की दशा में सर्वप्रथम रेज्ड नर्सरी बेड्स बनाए जाते हैं जिन्हें खाद आदि डालकर अच्छी प्रकार तैयार किया जाताहै। तदुपरांत इन बेड्स में 4 कि.ग्रा. प्रति एकड़ की दर से अश्वगंधा का बीज डाला जाता है जिसे हल्की मिट्टी डाल करके दबा दिया जाता है। लगभग 10 दिनों में इन बीजों का उगाव हो जाता है तथा छः सप्ताह के उपरांत जब ये पौधे लगभग 5–6 सें.मी. ऊंचे हो जाए तब इन्हें बड़े खेत में ट्रांसप्लांट कर दिया जाता है।

3.2.12 कौन सी विधि ज्यादा उपयुक्त है– सीधी बिजाई अथवा नर्सरी विधि? : यद्यपि नर्सरी में पौधे तैयार करके इनको खेत में ट्रांसप्लांट करना कई मायनों में लाभकारी हो सकता है परंतु जहां तक उत्पादन तथा जड़ों की गुणवत्ता का प्रश्न है तो सीधी बिजाई से प्राप्त उत्पादन ज्यादा अच्छा होना पाया गया है। विभिन्न अनुसंधानों में यह देखा गया है कि सीधी बिजाई करने पर मूसला जड़ की वृद्धि अच्छी होती है तथा बहुधा एक शाखा वाली सीधी जड़ प्राप्त होती है। जबकि रोपण विधि से तैयार किए गए पौधों में देखा गया है इनमें मूसला जड़ का विकास तो रुक जाता है जबकि दूसरी सहायक जड़ों का विकास अधिक होता है। इस प्रकार के पौधों में सहायक जड़ों की औसतन संख्या 8 तक पाई गई है। इसी प्रकार सीधी बिजाई करने पर जड़ों की औसतन लंबाई 22 से.मी. तथा मोटाई 12 मि.मी. तक पाई गई है जबकि रोपण विधि से तैयार पौधों में जड़ों की औसतन लंबाई 14 सें.मी. तथा मोटाई 8 मि.मी. तक पाई गई है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि सीधी बिजाई करने पर जड़ों में रेशों की मात्रा कम आती है तथा तोड़ने पर ये जड़े आसानी से टूट जाती हैं जबकि रोपण विधि से तैयार पौधों की जड़ों में रेशा अधिक पाया जाता है तथा ये जड़ें आसानी से टूट नहीं पाती हैं। इस प्रकार इन अनुसंधानों के परिणामों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अश्वगंधा की बिजाई हेतु रोपण (नर्सरी) विधि की अपेक्षा सीधी बिजाई करना प्रत्येक दृष्टि से ज्यादा लाभकारी है। अतः किसानों द्वारा यही विधि अपनाने की सलाह दी जाती हैं।

3.2.13 बिजाई से पूर्व बीजों का उपचार : अश्वगंधा के संदर्भ में डाई बैक अथवा सीड रॉटिंग बीमारियां काफी सामान्य हैं तथा इनसे उगते ही पौधे झुलसने से लगते हैं। जिससे प्रारंभ में ही पौधों की संख्या काफी कम हो जाती है। इस रोग के निवारण की दृष्टि से आवश्यक होगा यदि बीजों का उपयुक्त उपचार किया जाए। इसके लिए बीजों का कैप्टॉन, थीरम अथवा डायथेन एम–45 से 3 ग्राम प्रति कि.ग्रा. बीज की दर से उापचार करने से इन रोगों से बचाव हो सकता है। जैविक विधियों के अंतर्गत बीज का गौमूत्र से उपचार किया जाना उपयोगी रहता है। बायोवेद शोध संस्थान, इलाहाबाद ने अपने शोध प्रयोगों के उपरान्त पाया कि ट्राइकोडरमा 5 ग्राम प्रति कि.ग्रा. बीज का शोधन सबसे उपयुक्त है बायोनीमा 15 कि.ग्रा. प्रति एकड़ के प्रयोग जहां एक ओर विभिन्न रोगों के नियन्त्रण में सहायक हैं वहीं जड़ों के विकास में भी सहायक है से बीज उपचारित करने के भी काफी अच्छे परिणाम देखे गये हैं।

3.2.14 पौधों का विरलन : सीधी विधि विशेषतया छिटकवां विधि से बिजाई करने की दशा में प्रायः पौधों का विरलीकरण करना आवश्यक हो जाता है। यह विरलीकरण बिजाई के 25–30 दिन के बाद कर दिया जाना चाहिए। यह विरलीकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि पौधे से पौधे की दूरी 4 से.मी. तथा कतार से कतार की दूरी 30 से.मी. से ज्यादा न रहे।

3.2.15 खरपतवार नियंत्रण : अन्य फसलों की तरह अश्वगंधा की फसल में भी खरपतवार आ सकते हैं जिनके नियंत्रण हेतु हाथ से ही निंराई–गुड़ाई की जानी चहिए। यह निंराई कम से कम एक बार अवश्य की जानी चाहिए तथा जब पौधे लगभग 40–50 दिन के हो जाएं तब खेत की हाथ से निंराई कर दी जानी चाहिए। पौधों के विरलीकरण तथा खरपतवार नियंत्रण का कार्य साथ–साथ भी किया जा सकता है।

अश्वगंधा की पूर्ण विकसित फसल

3.2.16 खाद की आवश्यकता : अश्वगंधा की फसल को ज्यादा खाद की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा यदि इससे पूर्व में ली गई फसल में खाद का

दोयम दर्जे की जड़ अच्छी गुणवत्ता वाली जड़

काफी उपयोग किया गया हो तो उस फसल में प्रयुक्त खाद के बचाव से ही अश्वगंधा की फसल ली जा सकती है। इस फसल को ज्यादा नाइट्रोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि ज्यादा नाइट्रोजन देने से पौधे पर ''हर्बेज'' तो काफी आ सकती है परंतु जड़ों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता। वैसे इस फसल के लिए जो खाद की प्रति एकड़ अनुशंसित मात्रा है, वह है– 8 कि. ग्रा. नाइट्रोजन, 24 कि.ग्रा. फास्फोरस तथा 16 कि.ग्रा. पोटाश। इन अवयवों की पूर्ति जैविक विधि से तैयार खादों से भी की जा सकती है।

3.2.17 फसल से संबंधित प्रमुख बीमारियां तथा रोग

अश्वगंधा की फसल में मुख्यतया माहू–मोला का प्रकोप हो सकता है जिसे मैटासिस्टोक्स की 1.50 मिली मात्रा एक लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करने से नियंत्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त होने वाले रोग अथवा बीमारियाँ जिनमें जड़ सड़ने, पौध गलन तथा झुलसा रोग प्रमुख हैं (विशेषतया जब मौसम में आर्दता तथा गर्मी अधिक हो) के नियंत्रण का सर्वाधिक उपयुक्त उपचार है बीजों को उपचारित करके बिजाई करना जिसका विवरण पीछे दिया गया है। इसके उपरांत भी जब पौधे बड़े हो जाएं (20–25) दिन के तो 15–15 दिन के अंतराल पर गौमूत्र अथवा डयथेन एम–45 का छिड़काव किया जाना फसल को अधिकांश रोगों से मुक्त रखेगा।

अश्वगंधा की फसल पर कीट व्याधी का कोई विशेष असर नहीं होता है। कभी–कभी इस फसल में माहू कीट तथा पौध झुलसा व पर्ण झुलसा लग सकता है जिसके नियंत्रण हेतु क्रमशः मैलाथियान या मोनोक्रोटोफास एवं बीज उपचार के अलावा डायथेन एम–45, 3 ग्राम प्रति लीटर पानी घोल में

तैयार कर बुआई के 30 दिन के उपरान्त छिड़काव किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर 15 दिन के अन्दर पुनः छिड़काव किया जाना उपयोगी होता है।

3.2.18 सिंचाई की व्यवस्था : अश्वगंधा काफी कम सिंचाई में अच्छी उपज देने वाली फसल है। एक बार अच्छी प्रकार उग जाने (बिजाई के समय भूमि में पर्याप्त नमी होनी चाहिए) के उपरांत बाद में इसे मात्र दो सिंचाईयों की आवश्यकता होती है– एक उगने के 30–35 दिन के बाद तथा दूसरी उससे 60–70 दिन के उपरांत। इससे अधिक सिंचाई की आवश्यकता इस फसल को नहीं होती।

3.2.19 फसल का पकना तथा जड़ों की खुदाई (हारवेस्टिंग) : बिजाई के लगभग 5–5½ माह के उपरांत (प्रायः फरवरी माह की 15 तारीख के करीब) जब अश्वगंधा की पत्तियाँ पीली पड़ने लगे तथा इनके ऊपर आए फल (बेरिया) पकने लगे अथवा फलों के ऊपर की परत सूखने लगे तो अश्वगंधा के पौधों को उखाड़ लिया जाना चाहिए। यदि सिंचाई की व्यवस्था हो तो पौधों को उखाड़ने से पूर्व खेत में हल्की सिंचाई दी जानी चाहिए। हालांकि यदि सिंचाई की व्यवस्था हो तथा फसल को निरंतर पानी दिया जाता रहे तो पौधे हरे ही रहेंगे परंतु फसल को अधिक समय तक खेत में लगा नहीं रहने दिया जाना चाहिए क्योंकि इससे जड़ों में रेशे की मात्रा बढ़ेगी जोकि फसल की गुणवत्ता को प्रभावित करेगी। उखाड़ने के तत्काल बाद जड़ों को पौधों (तने) से अलग कर दिया जाना चाहिए तथा इनके साथ लगी रेत मिट्टी को साफ कर दिया जाना चाहिए। काटने के उपरांत इन्हें लगभग 10 दिनों तक छाया वाले स्थान पर सुखाया जाता है तथा जब ये जड़ें तोड़ने पर ''खट'' की

अश्वगंधा की पूर्ण तिकसित जड़

आवाज से टूटने लगें तो समझ लिया जाना चाहिए कि ये बिक्री के लिए तैयार हैं।

3.2.20 जड़ों की ग्रेडिंग : सुखाने के बाद यूं तो वैसे भी जड़ें बेची जा सकती हैं परंतु उत्पादन का सही मूल्य प्राप्त करने की दृष्टि से यह उपयुक्त होता है कि जड़ों को ग्रेडिंग करके बेचा जाए। इस दृष्टि से जड़ों को निम्नानुसार 3–4 ग्रेड़ों में श्रेणीकृत किया जा सकता है–

(क) 'अ' ग्रेड– इस श्रेणी में मुख्यतया जड़ का ऊपर वाला भाग आता है जो प्रायः चमकीला तथा हल्के छिलके वाला होता है। जड़ का यह भाग अंदर से ठोस तथा सफेद होता है तथा इसमें स्टार्च अधिक तथा एल्केलाइड्स कम पाए जाते हैं। इस भाग की औसत लंबाई 5 से 7 सेमी. तथा इसका व्यास 10 से 12 मि.मी. रहता है।

(ख) 'ब' ग्रेड– इस श्रेणी में जड़ का बीच वाला हिस्सा आता है। जड़ के इस भाग की औसतन लंबाई 3.5 से.मी. तथा इसका व्यास 5 से 7 मि. मी. रहता है। इस भाग में स्टार्च कम होती है जबकि इसमें एल्केलाइड्स ज्यादा होते हैं।

(स) 'स' ग्रेड– जड़ के निचले आखिरी किनारे का श्रेणीकरण 'स' ग्रेड में किया जाता है। इसके अतिरिक्त पतले रेशे भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस भाग में एल्केलाइड्स की मात्रा काफी अधिक होती हैं। तथा ''एक्सट्रेक्स'' निर्माण की दृष्टि से जड़ का यह भाग सर्वाधिक उपयुक्त होता है।

इसके अतिरिक्त अधिक मोटी, ज्यादा काष्ठीय, कटी–फटी तथा खोखली जड़ों तथा उनके टुकड़ों को 'द' श्रेणी में रखा जाता है। इस प्रकार श्रेणीकरण कर लेने से फसल का अच्छा मूल्य मिल जाता है।

3.2.21 उत्पादन तथा प्राप्तियाँ

मध्य प्रदेश के मंदसौर तथा नीमच जिले में किसानों द्वारा बड़े स्तर पर की जा रही अश्वगंधा की फसल के परिणाम दर्शाते हैं कि यहां पर किसान औसतन एक से डेढ़ क्विंटल जड़ें प्रति एकड़ प्राप्त करते हैं। हालांकि वस्तुस्थिति देखने पर यह अंदाजा स्वयं ही लगाया जा सकता है कि इन क्षेत्रों में अश्वगंधा की खेती अधिकांशतः ''नॉन सीरियसली'' की जाती है तथा उपयुक्त कृषि क्रियाओं पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यदि समस्त उपयुक्त कृषि

क्रियाएं अपनाते हुए अश्वगंधा की खेती की जाए तो एक एकड़ से औसतन 2 क्विंटल जड़ें किसान को प्राप्त हो सकती हैं। इनके साथ–साथ प्रति एकड़ लगभग 25 से 30 कि.ग्रा. बीज भी किसान को प्राप्त होता है।

जहां तक इससे होने वाली प्राप्तियों का प्रश्न है तो अश्वगंधा की फसल से तीन प्रकार की प्राप्तियां हो सकती हैं– जड़ की बिक्री से प्राप्तियां, बीज की बिक्री से प्राप्तिया। एक औसत दर के अनुसार अश्वगंधा की जड़ें 5500 रु. प्रति क्विंटल की दरसे बिक सकती है जिनसे 1.5 क्विंटल उत्पादन होने पर लगभग 8250 रु. की प्राप्तियां होंगी। बीज की बिक्री 40 रु. प्रति कि. ग्रा. की दर से लगभग 1000रु. की प्राप्ति होती है। हालांकि अभी अश्वगंधा के पत्तों का निश्चित बाजार नहीं है तथा जरूरी नहीं कि इनकी मांग हो ही परंतु यदि इनकी बिक्री हो जाए तो लगभग 1000 से 1500 रु. की अतिरिक्त प्राप्तियां हो सकती हैं। वैसे जड़ तथा बीज की बिक्री से प्रति एकड़ लगभग 9250 रु. की प्राप्तियां हो सकती हैं जिसमें से यदि 1545 रु. का व्यय कम कर दिया जाए तो किसान को इस एक एकड़ की फसल से लगभग 7705 रु. का शुद्ध लाभ होगा।

3.2.22 अश्वगंधा की बिक्री की व्यवस्था : अश्वगंधा उन कुछ गिनी–चुनी फसलों में से है जिनका विपणन आसान तथा सुनिश्चित है। एक तरफ जहां स्थानीय बाजारों में लगभग अधिकांश वैद्य इसकी खरीदी करते हैं वहीं अश्वगंधा का एक्सट्रेक्ट बनाने वाली कई इकाइयां इसके थोक खरीददार हैं। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के नीमच तथा मंदसौर जिलों में यह कृषि उपज मंडियों के माध्यम से भी बेचा जा सकता है। इस प्रकार अश्वगंधा का विपणन काफी आसान है।

3.2.23 अश्वगंधा की खेती के आर्थिक पहलू :

छः माह की अवधि की अश्वगंधा की खेती पर प्रति एकड़ लगभग 6,000/– रू0 की लागत आती है जबकि इसके उत्पादों से लगभग 20,000/– रू. की प्राप्तियाँ होती है। यदि खेती कार्बनिक पद्धति से की जाए तो फसल की 30 प्रतिशत अधिक कीमत मिल सकती है।

अश्वगंधा एक बहुउपयोगी औषधीय फसल है जिसे कृषक वर्ग व्यवसायिक खेती के रूप में अपनाकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

अश्वगंधा की खेती से सम्बन्धित प्रति एकड़ आय–व्यय का ब्यौरा

क्र.	लागत का ब्यौरा	
1.	खेत की तैयारी पर व्यय	500/–
2.	बीज की लागत (5 किग्रा0 बीज 500 रू0 प्रति किग्रा0 की दर से)	500/–
3.	खाद तथा कीटनाषकों की लागत	500/–
4.	पानी देने निराई, गुड़ाई तथा पौध संरक्षण पर व्यय	500/–
5.	जड़ें इकट्ठी कर साफ करने, ग्रेडिंग करने तथा पैकिंग पर व्यय	1,000/–
	योग	**3,000/–**
ख. प्राप्तियाँ		
1.	जड़ों की बिक्री से प्राप्तियाँ (तीन कुन्तल जड़ें 4,000/–रू0 प्रति कुन्तल की दर से)	12,000/–
2.	बीजों के रूप में प्राप्तियाँ (20 किग्रा0 बीज 100/– रू0 प्रति किग्रा0 की दर से)	2,000/–
	योग	**14,000/–**
ग. लाभ प्रति एकड़		**11,000/–**

❖❖❖

लघु उत्तरीय प्रश्न– (सही का निशान लगायें)।

1. अश्वगन्धा पौधा है : एकवर्षीय/द्विवर्षीय/बहुवर्षीय
2. अश्वगन्धा की बुवाई का उपयुक्त समय है : सितम्बर/जून/जुलाई
3. सीधी बुवाई करने में अश्वगन्धा के बीज की आवश्यकता : 5 किग्रा./10 किग्रा./15 किग्रा.
4. अश्वगन्धा की कटाई का उपयुक्त समय है : फरवरी/जुलाई/मई
5. अश्वगन्धा का औषधीय उपयोगी भाग है : जड़/फल/पत्ती/तीनों

खाली जगह भरो :

1. अश्वगन्धा के लिए उपयुक्त जलवायु है.....।
2. अश्वगन्धा के लिए सर्वोत्तम उपयुक्त भूमि है.....।
3. अश्वगन्धा का रोगों से बचाव हेतु बुवाई से पूर्व .....करना चाहिए।
4. अश्वगन्धा की खेती.....माह की फसल के रूप में ली जा सकती है।
5. अश्वगन्धा की खेती से शुद्ध लाभ के रूप में लगभग.....किया जाता है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. अश्वगन्धा का रासायनिक नाम क्या है? इसकी रासायनिक संरचना लिखिए।
2. अश्वगन्धा की खेती की विधि बताइये।
3. अश्वगन्धा की आर्थिकी लिखिए।

❖❖

इकाई – 4

4.1 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को प्रतिष्ठा दिलाने वाला पौधा : सर्पगन्धा

4.2 औषधीय उपयोग का महत्वपूर्ण पौधा : सतावर

4.1 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को प्रतिष्ठा दिलाने वाला पौधा : सर्पगन्धा

4.1.1 भूमिका

4.2.2 उद्देश्य

4.1.3 सर्पगन्धा की रासायनिक संरचना

4.1.4 सर्पगन्धा के औषधीय उपयोग

4.1.5 सर्पगन्धा की खेती की विधि

4.1.6 खेती के लिए उपयुक्त जलवायु

4.1.7 उपयुक्त मिट्टी

4.1.8 सर्पगन्धा की उन्नत प्रजातियाँ

4.1.9 बिजाई की विधि

4.1.10 खेत की तैयारी

4.1.11 सिंचाई की व्यवस्था

4.1.12 सर्पगन्धा के साथ अंर्तवर्तीय फसल

4.1.13 सर्पगन्धा की फसल के प्रमुख रोग तथा बीमारियाँ

4.1.14 फसल की वृद्धि तथा इसकी परिपक्वता

4.1.15 जड़ें उखाड़ने में विशेष सावधानियाँ

4.1.16 सर्पगन्धा की खेती से कुल प्राप्तियाँ

4.1.16 सर्पगन्धा की खेती पर होने वाले आय–व्यय का विवरण

4.2 औषधीय उपयोग का महत्वपूर्ण पौधा सतावर

4.2.1 भूमिका

4.2.2 उद्देश्य

4.2.3 सतावर की प्रमुख किस्में

4.2.4 सतावर के प्रमुख औषधीय उपयोग

4.2.5 सतावर की कृषि तकनीक

(अ) जलवायु

(ब) मिट्टी

4.2.6 बिजाई की विधि

4.2.7 नर्सरी अथवा पौधशाला बनाने की विधि

4.2.8 खेत की तैयारी

4.2.9 मुख्य खेत में पौधों की रोपाई

4.2.10 आरोहण की व्यवस्था

4.2.11 खरपतवार नियन्त्रण तथा निराई–गुड़ाई की व्यवस्था

4.2.12 सिंचाई की व्यवस्था

4.2.13 फसल का पकना अथवा फसल की परिपक्वता

4.2.14 जड़ों की खुदाई तथा उपज की प्राप्ति

4.2.15 कुल उत्पादन

4.2.16 फसल से प्राप्तियाँ, व्यय तथा लाभ

इकाई– 4

4.1 अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को प्रतिष्ठा दिलाने वाला पौधा

सर्पगंधा (*Rauwolfia serpentina* Benth ex kurz)

4.1.1 भूमिका

सर्पगंधा के पूर्ण विकसित पौधे

भारतीय महाद्वीप की जलवायु में सफलतापूर्वक उगाए जा सकने वाले औषधीय पौधों में न केवल औषधीय उपयोग बल्कि आर्थिक लाभ एवं मांग की दृष्टि से भी सर्पगंधा कुछ गिने चुने शीर्ष पौधों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। दक्षिण पूर्वी एशिया का यह मूल निवासी पौधा भारतवर्ष के साथ–साथ बर्मा, बांग्लादेश, श्री लंका, मलेशिया, इंडोनेशिया तथा अंडमान द्वीप समूह में स्वयंजात पाया जाता है भारतवर्ष में यह मुख्यतया उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल के तराई क्षेत्र, पूर्वी बिहार, उत्तर बंगाल, आसाम, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ तथा मध्य प्रदेश आदि राज्यों के साथ–साथ गोवा, कर्नाटक तथा केरल के कुछ भागों में वनों में प्राकृतिक रूप से पाया जाता है।

यूं तो भारतवर्ष के विभिन्न भागों में पाया जाने वाला सर्पगंधा औषधीय दृष्टि से विश्व भर में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है परन्तु देश के विभिन्न भागों में पाए जाने वाले सर्पगंधा देहरादून क्षेत्र में बोई जाने वाली सर्पगंधा में अजमेलीन समूह के एल्केलाइड अधिक पाए जाते हैं जबकि बिहारी मूल की सर्पगंधा में सर्पेन्टाइन समूह के एल्केलाइड अधिक पाए जाते हैं।

सर्पगंधा का नाम ''सर्पगंधा'' क्यों पड़ा होगा, इसके पीछे कई मत हैं। ऐसा माना जाता है कि क्योंकि प्राचीन समय से ही सर्पगंधा का उपयोग सांप काटे के इलाज के लिए किया जाता रहा है। इसलिए इसका नाम सर्पगंधा पड़ा होगा। हालांकि सबसे ज्यादा उपयुक्त मत इसके संस्कृत नाम

का लगता है जिसमें सर्पगंधा का अभिप्राय ''सर्पान् गन्धयति अर्दयति इति'' है, अर्थात् **''वह वस्तु (बूटी) जो सर्पों को पीड़ित करे अथवा सर्पों को दूर भगाए''**। क्योंकि सर्पगंधा की गंध से सांप दूर भागते हैं अतः संभवतया इसी वजह से इसका नाम सर्पगंधा पड़ा होगा। इसका व्यवसायिक नाम ''रावोल्फिया'' सोलहवीं शताब्दी के एक जर्म पादपविज्ञानी तथा चिकित्सक लियोनार्ड रावोल्फिया के नाम पर पड़ा हुआ माना जाता है।

विभिन्न चिकित्सा कार्यों हेतु भारतवर्ष में सर्पगंधा का उपयोग लगभग 400 वर्षों से किया जा रहा है। यद्यपि परम्परागत चिकित्सा पद्धतियों में इसका उपयोग सांप अथवा अन्य कीड़ों के काटने के इलाज हेतु, पागलपन एवं उन्माद की चिकित्सा हेतु तथा कई अन्य रोगों के निदान हेतु किया जाता रहा है परन्तु वर्ष 1952 में जब सीबा फार्मेस्यूटिकल्स स्विटजरलैण्ड के शिलर तथा मुलर नामक वैज्ञानिकों ने सर्पगंधा की जड़ों में ''रिसरपिन'' नामक एल्कोलाइड उपस्थित होने की खोज की तो यह पौधा सम्पूर्ण विश्व की नज़रों में आ गया। फलतः उच्च रक्तचाप की अचूक दवाई माने जाने वाले इस पौधे का जंगलों से अंधाधुंध विदोहन प्रारंभ हो गया जिससे शीघ्र ही यह पौधा लुप्तप्राय पौधों की श्रेणी में आ गया। वर्तमान में यह पौधा भारत सरकार द्वारा अधिसूचित किए गए लुप्तप्राय तथा प्रतिबन्धित पौधों की श्रेणी में शामिल है जिसके कृषिकरण को बढ़ावा देने हेतु प्रत्येक स्तर पर

सर्पगंधा के विभिन्न प्रजातियों के पुष्प

प्रयास किए जा रहे हैं।

सर्पगंधा लगभग 2 से 3 फीट तक उंचाई प्राप्त करने वाला एक अत्यधिक सुन्दर दिखने वाला बहुवर्षीय पौधा है जिसे कई लोगों द्वारा घरों

सर्पगंधा की फसल

में सजावट कार्य हेतु भी लगाया जाता है। भारतवर्ष के कई प्रदेशों में ''पागलपन की बूटी'' अथवा ''पागलों की दवाई'' के नाम से जाने जाने वाले इस पौधों का औषधीय दृष्टि से प्रमुख उपयोगी भाग इसकी जड़ होती है जो 2 वर्ष की आयु के पौधे में 30 से 50 से0मी0 तक विकसित हो जाती है लगभग छः माह की आयु प्राप्त कर लेने पर पौधों में हल्के गुलाबी रंग के अति सुन्दर फूल आते हैं तथा तदुपरान्त उन पर मटर के दाने के आकार के फल आते हैं जो कच्ची अवस्था में हरे रहते हैं तथा पकने पर ऊपर से काले दिखते हैं। इन फलों को मसलने पर अंदर से सफेद भूरे रंग के चिरौंजी के दानों जैसे बीज निकलते हैं। यूं तो सर्पगंधा की कई प्रजातियां जैसे *राबोल्फिया, वोमीटोरिया, रावोल्फिया, कैफरा, रावोल्फिया टैट्रफाइला रावोल्फिया, कैनोन्सिस* आदि भी पाई जाती हैं परन्तु सर्वाधिक मांग एवं उपयोगिता वाली प्रजाति *राबोल्फिया सर्पेन्टाइना* ही हैं इसके अतिरिक्त भी सर्पगंधा की कई जातियां हैं जो भारत के विभिन्न भागों में पाई जाती है। उदाहरणार्थ इसकी *राबोल्फिया कानेसेंस* नामक जाति बंगाल में प्रचुरता से मिलती है जबकि *राबोल्फिया डेन्सीफ्लोय* नामक प्रजाति खासीपर्वत, पश्चिमी घाट तथा कोंकण प्रदेश में ज्यादा पाई जाती हैं इसी प्रकार इसकी एक अन्य जाति *राबोल्फिया मीक्रान्था* है जो कि मालावार के समुद्रतटीय मैदानों में अधिक पाई जाती है तथा दक्षिणी भारत के बाजारों में इसकी जड़ें बिकने के लिए आती हैं।

4.1.2 उद्देश्यः सर्पगन्धा की खेती से जुड़ी पूर्ण जानकारी को उपलबध कराना।

4.1.3 सर्पगंधा की रासायनिक संरचना

सर्पगंधा में लगभग 30 एल्केलाइड्स पाए जाते हैं जिनमें प्रमुख हैं– रिसरपिन, सर्पेन्टाइन, सर्पेन्टाअनाइन, अजमेलाइन, अजमेलिसाइन, रावोल्फिनाइन, योहिम्बाइन, रेसिनेमाइन, डोज़रपिडाइन आदि। ये एल्केलाइड्स मुख्यतया सर्पगंधा की जड़ों में होते हैं। तथा पौधे की सूखी जड़ों में इनकी उपस्थिति 1. 7 से 3 प्रतिशत तक पाई जाती है। इसकी जड़ों से तैयार की जाने वाली भस्म में पोटेशियम, कार्बोनेट, फास्फेट, सिलिकेट, लोहा तथा मैंगेनीज़ पाए जाते हैं।

4.1.4 सर्पगंधा के औषधीय उपयोग

सर्पगंधा भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन एवं प्रमुख पौधों में से एक हैं परम्परागत ज्ञान के साथ–साथ– आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार भी यह विभिन्न विकारों के निदान में उपयोगी सिद्ध हुआ है। आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों में भारतवर्ष में जनसामान्य में इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय कोलकाता के सुप्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सक डा. गणपत सेन तथा डा. चन्द्रा बोस को जाता है। वर्तमान में जिन प्रमुख चिकित्सीय उपयोगों हेतु सर्पगंधा प्रमुखता से प्रयुक्त की जा रही है, वे निम्नानुसार हैं–

❒ उच्च रक्त चाप के निवारण हेतु

उच्च रक्त चाप अथवा हाई ब्लडप्रेशर के उपचार हेतु सर्पगंधा सम्पूर्ण विश्व भर में सर्वोत्तम औषधि मानी जाती है। इसके उपयोग से उच्च रक्तचाप में उल्लेखनीय कमी आती है, नींद भी अच्छी आती है तथा भ्रम आदि मानसिक विकार भी शांत होते हैं। वर्तमान चिकित्सा पद्धतियों में, विशेषतया अमेरिका में इसके उन तत्वों को अलग (आईसोलेट) कर लिया जाता हैं जो उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करते हैं तथा इन्हीं तत्वों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार किन्हीं तत्वों को आईसोलेट करके सर्पगंधा के उन्हीं तत्वों का सेवन करने के दुष्प्रभाव नहीं देखे जाते। प्रायः उच्च रक्तचाप में इसकी जड़ के चूर्ण का आधा छोटा चम्मच (एक ग्राम की मात्रा में) दिन में दो या तीन बार सेवन करने से उच्च रक्तचाप से सामान्यता आती है।

❒ अनिद्रा के उपचार हेतु

अनिद्रा की स्थिति में नींद लाने हेतु सर्पगंधा काफी उपयोगी

औषधि है। खांसी वाले रोगियों की अनिद्रा के निदान में भी यह अत्यधिक प्रभावी हैं अनिद्रा की स्थिति में निद्रा लाने हेतु इसकी जड़ का 0.60 से 1. 25 ग्राम चूर्ण किसी सुगंधीय द्रव्य के साथ मिलाकर देना प्रभावी रहता है। वैसे रात को सोते समय इसके 0.25 ग्राम पावडर का सेवन घी के साथ करने से बहुत जल्दी नीद आ जाती हैं वैसे चिकित्सक के परामर्श पर ही इसका उपयोग करना हितकर है।

❐ उन्माद के उपचार हेतु

परम्परागत चिकित्सा में सर्पगंधा बहुधा ''पागल बूटी'' अथवा पागलपन की दवा के रूप में भी जानी जाती हैं उन्माद और अपस्मार में जब रोगी बहुत अधिक उत्तेजित रहता है तो मन को शांत करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है इससे मन शांत रहता है तथा धीरे–धीरे मस्तिष्क के विकार दूर हो जाते हैं। इस विकार के उपचार हेतु सर्पगंधा की जड़ का एक ग्राम चूर्ण, 250 मि.ली. बकरी के दूध के साथ (साथ में गुड़ मिलाकर) दिन में दो बार दिया जाना उपयोगी रहता हैं परन्तु यह केवल उन्हीं मरीजों को दिया जाना चाहिए जो शारीरिक रूप से हृष्ट पुष्ट हों। शारीरिक रूप से कमजोर मरीजों तथा ऐसे मरीज़ जिनका रक्तचाप पहले से असामान्य रूप में नीचा हो (लो ब्लड प्रेशर वाले), को यह नहीं दिया जाना चाहिए।

अनिद्रा, उन्माद तथा उच्च रक्तचाप जैसे महत्वपूर्ण विकारों के निवारण के साथ–साथ शीतपित्त (यूर्टीकेरिया) बुखार, कृमिरोगों के निवारण, सर्पविष एवं अन्य कीड़ों के काटने के उपचार आदि जैसे अनेकों विकारों के निवारण हेतु भी इसे प्रयुक्त किया जाता है।

निःसन्देह सर्पगंधा एक अत्यधिक औषधीय उपयोग का पौधा है जिसका उपयोग केवल परम्परागत ही नहीं बल्कि आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों में भी बखूबी से किया जाता हैं इस पौधे के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसका उपयोग तो विश्व के सभी देशों द्वारा किया जाता है चाहे वे विकसित देश हों अथवा अविकसित, परन्तु इसकी आपूर्ति का मुख्य स्त्रोत भारतवर्ष ही हैं हालांकि कुछ मात्रा में पाकिस्तान, बर्मा, थाईलैण्ड, श्रीलंका आदि देशों से भी इसकी आपूर्ति होती है परन्तु भारतवर्ष में उपजी सर्पगंधा को ज्यादा अच्छा माना जाता है। एक अनुमान के अनुसार

विश्व भर में सर्पगंधा की सूखी जड़ों की वार्षिक मांग लगभग 20.000 टन की हैं इसी प्रकार देशीय बाजार में इसके एक्सट्रेक्ट तथा एलकोलाइड्स निकालने हेतु लगभग 650 टन जड़ों की वार्षिक मांग है। जबकि समस्त स्त्रोतों को मिला करे इसकी कुल आपूर्ति मात्र 350 टन प्रतिवर्ष की है (फारूखी एवं श्री रामू, 2001) उल्लेखनीय है कि फाउण्डेशन फॉर रीवाइटलाईजेशन ऑफ लोक हेल्थ ट्रेडीशन्स बंग्लौर द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के आधार पर उनके द्वारा सर्पगंधा को सर्वाधिक मांग वाले 20 प्रमुख भारतीय औषधीय पौधों (Top twenty indian medicinal Plants in trade) में स्थान दिया गया है। ऐसी स्थिति में इसकी सुनिश्चित आपूर्ति तभी हो सकती है यदि इसके कृषिकरण को बहुत बड़े स्तर पर प्रोत्साहित किया जाए।

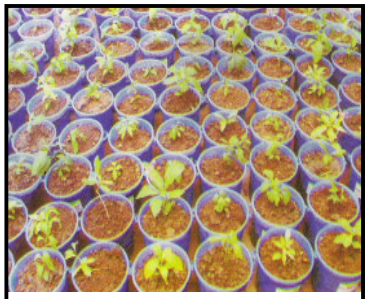

नर्सरी में तैयार हो रहे सर्पगंधा के पौधे

4.1.5 सर्पगंधा की खेती की विधि

सर्पगंधा एक बहुवर्षीय औषधीय पौधा है जिसकी खेती इसकी जड़ों की प्राप्ति के लिए की जाती है कई जगहों पर इसे दो वर्ष की फसल के रूप में लिया जाता है तथा कई जगहों पर 3–4 वर्ष की फसल के रूप में। इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर इसकी फसल से होने वाली प्राप्तियों में भी भिन्नता होती है। एक अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए इसकी कृषि तकनीक से संबंधित विकसित किए गए प्रमुख पहलू अपनाना होगा।

❐ सर्पगंधा की फसल की अवधि

सर्पगंधा बहुवर्षीय फसल है तथा इसे 2 माह से 5 वर्ष तक के लिए खेत में रखा जाता है। परन्तु इन्दौर में हुए शोध कार्यों से यह पता चलता है कि 18 माह की अवधि के उपरान्त फसल को उखाड़ लिया जाना चाहिए। हांलांकि यह भी पाया गया है कि जितने ज्यादा समय तक पौधा खेत में लगा रहेगा उसी के अनुरूप जड़ों की मात्रा में बढ़ोत्तरी होती जाएगी तथा दो साल की फसल की अपेक्षा तीन साल की फसल से ज्यादा उत्पादन

मिलता है, परन्तु अंततः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इसकी खेती 30 माह अर्थात् ढाई वर्ष की फसल के रूप में की जाए जिससे एल्केलाइड भी पूर्णतया विकसित हो जाएं तथा उत्पादन भी अधिक हो।

4.1.6 खेती के लिए उपयुक्त जलवायु

भारतीय महाद्वीप का मूल निवासी पौधा होने के कारण सर्पगंधा की खेती हेतु भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु काफी उपयुक्त पाई जाती है। यूं तो ऐसे क्षेत्र जहां की जलवायु में ज्यादा उतार चढ़ाव न हों वे इसके लिए ज्यादा उपयुक्त हैं, परन्तु फिर भी देखा गया है कि यह 10^0 से लेकर 45^0 तक के तापमान में सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है। वैसे तो यह खुले क्षेत्रों में ज्यादा अच्छी प्रकार पनपता है परन्तु आंशिक छाया वाले क्षेत्रों में भी इसका अच्छा विकास होता है। ज्यादा पाले तथा सर्दी के समय इसके पत्ते झड़ जाते हैं तथा बसन्त आते ही पुनः नई कोपलें आ जाती हैं। यद्यपि जलभराव वाले क्षेत्रों के लिए यह उपयुक्त नहीं है। परन्तु यदि 2–3 दिन तक जल भराव वाली स्थिति बनती है तो ऐसी स्थितियां यह सहन करने की क्षमता रखता है। प्राकृति रूप में तो यह 250 से 500 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में अच्छी प्रकार उगता एवं बढ़ता देखा गया है। इस प्रकार सामान्य परिस्थितियों में सम्पूर्ण भारतीय महाद्वीप की जलवायु, ऊपरी उत्तरांचल, ऊपरी हिमाचल, कश्मीर तथा किन्हीं उत्तर पूर्वी राज्यों तथा राजस्थान एवं गुजरात के रेगिस्तान वाले क्षेत्रों को छोड़कर शेष भारत की जलवायु इसकी खेती के लिए उपयुक्त है। अभी वर्तमान में इसकी आपूर्ति मुख्यतया उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, आसाम, पश्चिमी बंगाल, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल तथा महाराष्ट्र आदि राज्यों में हो रही है जो स्वाभाविक रूप से इसकी खेती के लिए उपयुक्त क्षेत्र माने जा सकते हैं।

कटिंग (कलम) से तैयार किया गया सर्पगंधाका पोधा

4.1.7 उपयुक्त मिट्टी

सर्पगंधा की जड़ें भूमि में 50 सेंमी. तक गहरी जाती हैं अतः इसकी खेती ऐसी मिट्टियों में ज्यादा सफल हागी जिनमें जड़ों का सही विकास हो सके। इस दृष्टि से 6.5 पी.एच. वाली रेतीली दोमट तथा काली कपासिया मिट्टियां इसकी खेती के लिए ज्यादा उपयुक्त हैं।

4.1.8 सर्पगंधा की उन्नत प्रजातियाँ

सर्पगंधा की खेती से संबंधित ***जवाहर लाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय*** द्वारा काफी अच्छा कार्य किया गया हैं तथा *विश्वविद्यालय* द्वारा सर्पगंधा की एक उन्नत प्रजाति विकसित की गई है जिसे ''आर.एस.1'' का नाम दिया गया है। इस प्रजाति में सात माह पुराने बीजों में भी 50 से 60 प्रतिशत तक उगाव होना पाया गया है तथा इस प्रजाति में 10 क्विंटल प्रति एकड़ सूखी जड़ों का उत्पादन रिपोर्ट किया गया है। सर्पगंधा की इस प्रजाति के 18 माह के पौधों से प्राप्त जड़ों में 1.64 प्रतिशत से 2.94 प्रतिशत तक एल्कोलाइड होना पाया गया है।

4.1.9 बिजाई की विधि

सर्पगंधा की बिजाई हेतु मुख्यतया तीन विधियां प्रचलन में हैं–

1. तने की कलम से प्रवर्धन, 2. जड़ों से प्रवर्धन, 3. बीजों से बिजाई करने की प्रक्रियाएं निम्नानुसार है–

❒ **तने की कलमों से प्रवर्धन :–**इस विधि में सर्पगंधा की 6 से 9 इंच लम्बी ऐसी काट ली जाती हैं जिनमें कम से कम 3 नोड्स हो। इस सदर्भ में नर्म लकड़ी वाली कलमों की बजाय सख्त लकड़ी (हार्डवुड) वाली कलमें ज्यादा उपयुक्त रहती हैं। इन कलमों को 30 पी.पी.एम. वाले एन्डोल एसिडटिक एसिड वाले घोल में 12 घंटे तक डुबोकर रखने के उपरान्त इनकी बिजाई करने के अच्छे परिणाम देखे गए हैं। इस प्रकार इस घोल में इन कलमों को शोधित करने के उपरान्त इन्हें माह मई–जून में नर्सरी में लगा दिया जाता है। तथा नर्सरी में नमी बनाई रखी जाती है। यूं तो इनमें 3–4 दिन में उगाव प्रारंभ हो जाता है परन्तु ट्रांसप्लांटिंग के लिए पौधे लगभग 70–75 दिन में ही तैयार हो पाते हैं। प्रायः इस विधि से 40 से 65 प्रतिशत कलमों में ही उगाव हो पाता है।

❒ जड़ों की कटिंग्स (रूट कटिंग्स)प्रवर्धन :– जड़ों की कटिंग्स से पौधों का प्रवर्धन तने की कटिंग्स की तुलना में ज्यादा सफल रहता है। इस विधि से एक से दो इंच लंबी टेप रूट्स की कटिंग्स को खाद, मिट्टी तथा रेत मिश्रित पौलीथीन की थैलियों में इन्हें इस प्रकार रखा जाता है कि पूरी कटिंग मिट्टी से दब जाए तथा यह मिट्टी से मात्र 1 से.मी. ही ऊपर रहे। इस प्रकार लगाई गई 50. प्रतिशत कटिंग्स लगभग एक माह के अंदर अंकुरित हो जाती है। परीक्षणों में देखा गया है कि इस प्रकार मार्च–जून माह में लगाई गई लगभग 0.5 डायमीटर की कटिंग्स में 50 से 80 प्रतिशत तक उगाव हो जाता है। इस प्रकार से बिजाई करने हेतु एक एकड़ की बिजाई करने के लिए लगभग 40 कि.ग्रा. रूट कटिंग्स की आवश्यकता होती है। हालांकि इस विधि से बिजाई करने पर तने की कलमों से बिजाई करने की अपेक्षा अधिक उत्पादन मिलता है परन्तु सर्वाधिक उत्पादन तो बीज से बिजाई करने पर ही प्राप्त होता है।

पत्ते झड़ जाने के उपरान्त सर्पगंधा की फसल

❒ बीज से बिजाई करना : व्यवसायिक खेती की दृष्टि से सर्पगंधा के प्रवर्धन का सर्वोत्तम तरीका इसका बीजों से प्रवर्धन करना होता है, हालांकि बीजों से प्रवर्धन करने के रास्ते में सबसे बड़ी समस्या बीजों की उगाव क्षमता की है क्योंकि एक तो वैसे भी बीजों का उगाव कम (10 से 60) प्रतिशत ही होता है।, दूसरे बीज जितने पुराने होंगे उनकी उगाव क्षमता उतनी घटती जाएगी। वैसे यदि एकदम ताजे बीजों की बिजाई की जाए तो उगाव क्षमता ज्यादा रहती है तथा 6 माह से ज्यादा पुराना बीज नहीं लेना चाहिए।

बीज प्राप्त करने तथा इनका ऊपरी छिलका (काले रंग वाला आवरण) उतार लेने के उपरान्त इनको नर्सरी में तैयार किया जाता है।

इसके लिए लगभग 9 इंच से 1 फीट ऊंची उठी हुई (रेज़्ड) बैड्स बना ली जाती हैं। इन बीजों को रात भर पानी में भिगोकर रखा जाता है तथा कुछ बीज जो पानी के ऊपर तैरते दिखाई देते हैं उन्हें निकाल दिया जाता है। बिजाई से पूर्व इन बीजों को थीरम (3 ग्राम प्रति किलो ग्राम की दर से) उपचारित किया जाना उपयोगी रहता है। एक एकड़ की खेती के लिए लगभग 500 वर्ग फीट की नर्सरी पर्याप्त होती है। नर्सरी के बजाय बीजों को पोलीथीन की थैलियों में डालकर भी पौध तैयार की जा सकती है। नर्सरी अथवा पौलीथीन की थैलियों में हल्की नमी बनाकर रखना चाहिए। नर्सरी बनाए जाने का सर्वाधिक उपयुक्त समय अप्रैल–मई माह का होता है। बीज से पौध तैयार करने में एक एकड़ के लिए 2 से 3 कि.ग्रा. बीज की आवश्यकता होती है। प्रायः 20 दिन के उपरान्त बीजों से उगाव होना प्रारंभ हो जाता है तथा उगाव की प्रक्रिया 50 दिन तक चलती है। नर्सरी में लगाए गए पौधों पर जब 4 से 6 तक पत्ते आ जाएं तो उन्हें सुविधापूर्वक उखाड़ करके मुख्य खेत में लगा दिया जाता है। मुख्य खेत में लगाने से पूर्व इन छोटे पौधों को गौमूत्र से उपचारित करना लाभकारी रहता है।

4.1.10 खेत की तैयारी

सर्पगंधा की फसल को कम से कम दो वर्ष तक खेत में रखना होता है। अतः मुख्य खेत की तैयारी पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम खेत तैयार करते समय गहरी जुताई करके खेत में दो टन केंचुआ खाद अथवा चार टन कम्पोस्ट खाद तथा 15 किग्रा. बायोनीमा जैविक खाद प्रति एकड़ की दर से मिला दी जानी चाहिए। तदुपरान्त 45–45 सेमी. की दूरी पर खेत में 15 सेमी. गहराई के कुंड बना दिए जाते हैं। कई बार बिना कुंड बनाए सीधे बजाई भी की जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में खेत में खुरपी की सहायता से लगभग 6 इंच गहराई के गड्ढे बनाकर नर्सरी में तैयार किए गए पौधों को 30–30 सेमी. की दूरी पर रोपित कर दिया जाता है। इस प्रकार लगाए जाने पर लाइन से लाइन की दूरी 45–45 से.मी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 30–30 सेमी. रहती है। रोपण के तत्काल बाद पौधों को सिंचाई दे देनी चाहिए।

4.1.11 सिंचाई की व्यवस्था

सर्पगंधा लम्बे समय (2 साल से अधिक) की फसल है अतः इसकी अच्छी बढ़त के लिए सिंचाई की व्यवस्था होना आवश्यक है किन्तु सिंचाई देने में ज्यादा उदारता नहीं बरतनी चाहिए तथा पौधों को तरसा–तरसा करके पानी देना चाहिए। यदि पौधे को किन्हीं निश्चित अंतरालों पर अपने आप पानी दे दिया जाए तो जड़ें पानी की तलाश में नीचे नहीं जाएंगी अर्थात् जड़ों का सही विकास नहीं हो पाएगा। अतः सर्पगंधा के पौधों की सिंचाई के संदर्भ में विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है तथा सिंचाई तभी की जानी चाहिए जब पौधों को इसकी वास्तविक आवश्यकता हो तथा पौधे लगभग मुरझाने से लग जाऐं।

4.1.12 सर्पगंधा के साथ अंर्तवर्तीय फसल

सर्पगंधा की खेती जहां कई अन्य फसलों के साथ ली जा सकती है वहीं इसके बीज में कई अन्य औषधीय तथा अन्य फसलें भी ली जा सकती हैं। अंतर्वतीय फसल के रूप में इसके साथ सोयाबीन की कम फैलने वाली प्रजातियों की खेती काफी उपयुक्त रही हैं इसी प्रकार इसकी खेती बाइबिडंग तथा आंवला आदि जैसे बहुवर्षीय पौधों के साथ–साथ सफेद मूसली, कालमेघ तथा भुई आंवला आदि जैसे कम अवधि के औषधीय पौधों के साथ भी सफलतापूर्वक ली जा सकती है।

4.1.13 सर्पगंधा की फसल के प्रमुख रोग तथा बीमारियाँ

सर्पगंधा की जड़ों पर कई प्रकार के कृमि तथा नीमैटोड्स विकसित हो सकते हैं। जिससे जड़ों के ऊपर छल्ले जैसे बन जाते हैं। इनसे सुरक्षा

सर्पगंधा की सूखी जड़ें

के लिए प्रति एकड़ 15 कि.ग्रा. बायोनीमा भूमि में डालना लाभकारी रहता है। पौधों के पत्तों पर पत्ती लपेटने वाले कीड़ों (केटरपिलर्स) का प्रकोप भी

हो सकता है जिसके लिए 0.2 प्रतिशत रोगोर का स्प्रे किया जा सकता है। इसी प्रकार *सिरकोस्पोरा रावोल्फाई* नामक फफूँद द्वारा पौधे की पत्तियों पर धब्बे डाले जाने की स्थिति में मानसून से पूर्व 0.2 प्रतिशत डायथेन जेड–78 अथवा डायथेन एम–45 का छिड़काव करना लाभकारी रहता है। इस प्रकार यूं तो यह फसल बहुधा कीड़ों तथा बीमारियों के प्रकोप से मुक्त रहती है परन्तु फिर भी उपरोक्तानुसार वर्णित कुछ रोग फसल पर आ सकते हैं। जिनसे समय रहते सुरक्षा की जाना आवश्यक होती हैं। विभिन्न जैविक विधियों जैसे नीम की खली का घोल, जैविक कीटनाशकों जैसे बायोपैकुनिल तथा बायोधन का स्प्रे तथा गोमूत्र का छिड़काव भी फसल को विभिन्न बीमारियों से सुरक्षा प्रदान करता है।

4.1.14 फसल की वृद्धि तथा इसकी परिपक्वता

रोपण के लगभग छः माह के उपरान्त सर्पगंधा के पौधों पर फूल आने प्रारंभ हो जाते हैं जिन पर फिर फल तथा बीज बनते हैं। इस संदर्भ में यदि फसल के प्रारंभिक दिनों में बीज बनने दिए जाए तो जड़ों का विकास प्रभावित हो सकता है क्योंकि ऐसे में सारी खाद्य सामग्री (फूड मेटेरियल) फलों तथा बीजों को चली जाती है तथा जड़ें कमजोर रह सकती हैं। अतः पहली बार आने वाली फूलों को नाखून की सहायता से तोड़ दिया जाता है तथा आगे आने वाले फूलों, फलों तथा बीजों को फलने तथा बढ़ने दिया जाता है। इनमें से पके हुए फलों को सप्ताह में दो बार चुन लिया जाता है। यह सिलसिला पौधों को अंततः उखाड़ने तक निरन्तर चलता रहता है। इसी बीच माह जून–जुलाई में प्रति एकड़ एक टन केंचुआ खाद तथा 15 कि.ग्रा. बायोनीमा जैविक खाद ड्रिलिंग करकें खेत में पौधों के पास–पास डाल दी जानी चाहिए।

जैसा कि पूर्व में वर्णित है, यूं तो सर्पगंधा की 18 माह की फसल में इसकी जड़ों में पर्याप्त तथा वांछित एल्केलाइड विकसित हो जाते हैं परन्तु पर्याप्त मात्रा में जड़ें प्राप्त करने के लिए इसे 2–3 अथवा 4 साल तक खेत में रखा जाता है। वैसे इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त अवधि 30 माह तक की है। अतः जब फसल 30 माह अथवा ढ़ाई वर्ष की हो जाए तथा सदी के मौसम में (दिसम्बर–जनवरी) में जब पौधों के पत्ते झड़ जाएं तब जड़ों को खोद लिया जाना चाहिए। वैसे भी जड़ों की हारवेस्टिंग सर्दी के समय करना

ही ज्यादा उपयुक्त होता है क्योंकि उस समय इनमें एल्केलाइड्स की मात्रा अधिकतम होती है।

4.1.15 जड़ें उखाड़ने में विशेष सावधानियाँ

सर्पगंधा की फसल के संदर्भ में इसकी जड़ों को उखाड़ने में कुछ विशेष सावधानियां रखने की आवश्यकता होती है। क्योंकि इसकी जड़ों की छाल में सर्वाधिक एल्केलाइड्स की मात्रा होती है तथा जड़ों का 40 से 55 प्रतिशत भाग इस छाल का ही होता है अतः यह विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि जड़ों को उखाड़ते समय इनके साथ लगी छाल को हानि न पहुंचे। अतः जड़ों को सावधानी पूर्वक उखाड़ा जाना चाहिए। जड़ों को उखाड़ने के लिए कुदाली का उपयोग भी किया जा सकता है तथा सब–सायलर का भी। उखाड़ने से पूर्व खेत में एक हल्की सिंचाई कर दी जाए तो जड़ों को उखाड़ना आसान हो जाता है।

उखाड़ने के उपरान्त जड़ों के साथ लगी रेत अथवा मिट्टी को सावधानी पूर्वक साफ करना आवश्यक होता है। यह भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि जड़ों की छाल को क्षति न पहुंचे। साफ कर लेने के उपरान्त इन्हें अच्छी प्रकार सुखाया जाता है। सुखाने के उपरान्त जड़ों में 8 प्रतिशत से अधिक नमी नहीं बचनी चाहिए। सूखने पर ये जड़ें इतनी सूख जानी चाहिए कि तोड़ने पर ये ''खट'' की आवाज से टूट जाऐं। इन सूखी हुई जड़ों को सूखी जगह पर जूट के बोरों में रख कर संग्रहित कर लिया जाता है।

4.1.16 सर्पगंधा की खेती से कुल प्राप्तियां

विभिन्न विधियों से लगाई जाने वाली सर्पगंधा की फसल से मिलने वाली जड़ों की मात्रा में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। इस संदर्भ में तने की कलमों की अपेक्षा जड़ की कलमों (रूट कटिंग्स) तथा जड़ की कलमों की अपेक्षा बीज से लगाई गई फसल में जड़ों की मात्रा ज्यादा पाई जाती है। इसी प्रकार यूं तो 18 माह की फसल में पर्याप्त तथा उपयुक्त एल्केलाइड्स विकसित हो जाते हैं। परन्तु इन्हें जितने ज्यादा समय तक खेत में लगा रहने दिया जाए उतनी ही उत्तरोत्तर जड़ों की मात्रा बढ़ती जाती है। परीक्षणों में यह पाया गया है कि दो वर्ष की फसल से प्रति एकड़ 880 किग्रा. तथा तीन वर्षा की फसल से 1320 किग्रा. सूखी जड़ें प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकार यदि 30 माह की फसल के अनुसार अनुमान लगाया जाए तो एक एकड़ से लगभग 1000 किग्रा. अथवा 10 क्विंटल सूखी जड़ों की प्राप्ति होगी। वैसे यदि 8 क्विंटल जड़ें भी प्राप्त हों तथा जड़ों की प्राप्ति हो तथा जड़ों की बिक्री दर 80 रू. प्रति किग्रा. मानी जाए तो इस फसल से किसान को लगभग 65000 रू. की प्राप्तियां होगी। इसके साथ–साथ किसान को लगभग 25 किग्रा. बीज भी प्राप्त होंगे जिसकी 1500 रू. प्रति कि.ग्रा. की दर से बिक्री भी मानी जाए तो इससे किसान को लगभग 35000रू. की अतिरिक्त प्राप्तियां होंगी। इस प्रकार इस 30 माह की फसल से किसान को लगभग 1 लाख रू. प्रति एकड़ की प्राप्तियां होंगी। इनमें से यदि विभिन्न कृषि क्रियाओं पर होने वाला 24000 रू. का खर्च कम कर दिया जाए तो सर्पगंधा की फसल से किसान को प्रति एकड़ 77500रू. का शुद्ध लाभ होने की संभावना है।

4.1.17 सर्पगंधा की खेती पर होने वाले आय–व्यय का विवरण

(प्रति एकड़, 30 माह की फसल के अनुसार)

(क)	**कुल व्यय**		
1	खेत की तैयारी पर व्यय	=	2500/–
2	खाद एवं कीटनाशकों पर व्यय	=	4000/–
3	बीज की लागत (तीन कि.ग्रा. बीज 2500 रू. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	7500/–
4	नर्सरी तैयार करने की लागत	=	500/–
5	ट्रांसप्लांटिंग की लागत	=	1000/–
6	खरपतवार नियंत्रण तथा निंदाई गुड़ाई की लागत	=	2000/–
7	बीजों की चुनाई पर व्यय	=	1000/–
	सिंचाई पर व्यय	=	1000/–
9	30 माह तक फसल की देखभाल पर व्यय	=	1500/–
10	फसल उखाड़ने तथा सुखाने आदि पर व्यय	=	2000/–
11	पेकिंग तथा ट्रांसपोर्टेशन आदि पर व्यय	=	1000/–
	कुल योग	**=**	**24000/–**
(ख)	**कुल व्यय**		
1.	सूखी जड़ों की बिक्री से प्राप्तियाँ (8 क्विंटल जड़ें 80 रु. प्रति कि.ग्रा. की दर से)	=	64000/–
2.	बीजों की बिक्री से प्राप्तियाँ (प्रति कि.ग्रा. की दर से बिक्री)		37500/–
	कुल योग	**=**	**101500/–**
शुद्ध लाभ = 101500/–24000/		**=**	**77500/–**

निःसन्देह सर्पगंधा उन प्रमुख औषधीय पौधों में से है जिनकी खेती की जाना वर्तमान में काफी लाभकारी है। इनमें से सर्वाधिक प्रमुख कारण हैं– राष्ट्रीय तथा अंर्तराष्ट्रीय स्तर पर इसका बढ़ता जा रहा बाज़ार जिसमें अभी काफी समय तक संतृप्ता (सेचुरेशन) आने की संभावना नहीं है। दूसरा इससे प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा भी काफी अधिक है तथा परम्परागत फसलों की तुलना में यह काफी अधिक लाभकारी भी है। तीसरा कारण यह भी है कि हालांकि स्वयं में तो यह फसल 30 माह अथवा ढाई वर्ष की अवधि ा की है परन्तु इसके बीच में कई अंर्तवर्तीय फसलें लेकर फसल पर होने वाले अन्य सामान्य खर्चों की पूर्ति की जा सकती है। चौथे, इसकी खेती प्रारंभ करने में प्रारंभिक खर्चे भी ज्यादा नहीं हैं। इस प्रकार सर्पगंधा एक ऐसा औषधीय पौधा है जिसकी खेती प्रत्येक किसान के लिए लाभकारी हो सकती है।

❖❖❖

लघु उत्तरीय प्रश्न– (सही का निशान लगायें)

1. सर्पगन्धा का पौधा है : एकवर्षीय / द्विवर्षीय / बहुवर्षीय
2. सर्पगन्धा में एल्केलाइड्स पाये जाते हैं : 30 / 40 / 50
3. सर्पगन्धा का मुख्य उपयोगी भाग है : जड़ / पत्ती / फूल
4. सर्पगन्धा के बीज से बुवाई के लिए बीज की आवश्कयता होती है : 2–3 किग्रा / 5–10 किग्रा. / 10–15 किग्रा

खाली जगह भरो :

1. सर्पगन्धा के पौधे की उँचाई.....फीट होती है।
2. सर्पगन्धा का रासायनिक नाम..... .....है।
3. प्राकृतिक रूप से इसकी खेती के लिए .....वार्षिक वर्षा की आवश्कता होती है।
4. सर्पगन्धा से शुद्ध लाभ.....प्राप्त किया जा सकता है।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न–

1. सर्पगन्धा की रासायनिक संरचना तथा औषधीय उपयोग बताइये।
2. सर्पगन्धा की खेती की विधि लिखिए।
3. सर्पगन्धा की आर्थिकी का वर्णन कीजिए।

❖❖

4.2 औषधीय उपयोग का महत्वपूर्ण पौधा

सतावर (*Asparagus racemosus* villd)

4.2.1 भूमिका

सतावर का पौधा

सतावर अथवा शतावरी भारतवर्ष के विभिन्न भागों में प्राकृतिक रूप से पाई जाने वाली बहुवर्षीय आरोही लता है। नोकदार पत्तियों वाली इस लता को घरों तथा बगीचों में शोभा हेतु भी लगाया जाता है। जिससे अधिकांश लोग इसे अच्छी तरह पहचानते हैं। सतावर के औषधीय उपयोगों से भी भारतवासी काफी पूर्व से परिचित हैं तथा विभिन्न भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में इसका सदियों से उपयोग किया जाता रहा है। विभिन्न वैज्ञानिक परीक्षणों में भी विभिन्न विकारों के निवारण में इसकी औषधीय उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है तथा वर्तमान में इसे एक महत्वपूर्ण औषधीय पौधा होने का गौरव प्राप्त है।

सतावर की पूर्ण विकसित लता 30 से 35 फुट तक ऊंची हो सकती है। प्रायः मूल से इसकी कई लताएं अथवा शाखाएं एक साथ निकलती हैं। यद्यपि यह लता की तरह बढ़ती है परन्तु इसकी शाखाएं काफी कठोर (लकड़ी के जैसी) होती हैं। इसके पत्ते काफी पतले तथा सुइयों जैसे नुकीले होते हैं। इनके साथ–साथ इनमें छोटे–छोटे कांटे भी लगते हैं। जो किन्हीं प्रजातियों में ज्यादा तथा किन्हीं में कम आते हैं ग्रीष्म ऋतु में प्रायः इसकी लता का ऊपरी भाग सूख जाता है तथा वर्षा ऋतु में पुनः नवीन शाखाएं निकलती हैं। सितंबर–अक्टूबर माह में इसमें गुच्छों में पुष्प आते हैं तथा तदुपरान्त उन पर मटर के दाने जैसे हरे फल लगते हैं। धीरे–धीरे ये फल पकने लगते हैं तथा पकने पर प्रायः लाल रंग के हो जाते हैं। इन्हीं फलों से निकलने वाले बीजों को आगे बिजाई हेतु प्रयुक्त किया जाता है। पौधे के मूलस्तम्भ से सफेद ट्यूबर्स (मूलों) का गुच्छा निकलता है जिसमें प्रायः

प्रतिवर्ष वृद्धि होती जाती हैं औषधीय उपयोग में मुख्यतया यही मूल आथवा इन्हीं ट्यूबर्स का उपयोग किया जाता है।

4.2.2 उद्देश्य :

सतावर की खेती से सम्बन्धित पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराना।

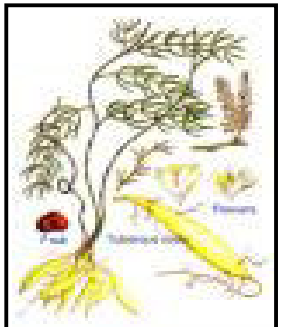
सतावर के पौधे की संरचना

4.2.3 सतावर की प्रमुख किस्में

साहित्य में सतावर की कई किस्मों का विवरण मिलता है जिनमें प्रमुख हैं *एस्पेरेगस सारमेन्टोसस, एस्पेरेगस कुरिलस, एस्पेरेगस गोनोक्लैडो, एस्पेरेगस एडसेंडेस, स्पेरेगस आफीसीनेलिस, एस्पेरेगस प्लुमोसस, एस्पेरेगस फिलिसिनस, एस्पेरेगस स्प्रेन्गेरी* आदि। इनमें से *एस्पेरेगस एडसेन्डेस* को तो सफेद मूसली के रूप में पहचाना गया है। जबकि *एस्पेरेगस सारमेन्टोसस* महाशतावरी के नाम से जानी जाती है। महाशतावरी की लता अपेक्षाकृत बड़ी होती है तथा इसमें कंद लंबे तथा संख्या में अधिक होते हैं। सतावर की *एस्पेरेगस फिलिसिनस* किस्म कांटा रहित होती है तथा मुख्यतया हिमालयी क्षेत्रों में पाई जाती है। सतावर की एक अन्य किस्म ***एस्पेरेगस आफीसीनेलिस*** **मुख्यतया सूप तथा सलाद बनाने के काम आती है।** तथा बड़े शहरों में इसकी अच्छी मांग है। इनमें से औषधीय उपयोग में सतावर की जो किस्म मुख्यतया प्रयुक्त होती है वह है एस्पेरेगस रेसीमोसस, जिसके बारे में विवरण यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

4.2.4 सतावर के प्रमुख औषधीय उपयोग

सतावर भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख औषधीय पौधों में से एक हैं जिन विकारों के निदान हेतु इसका प्रमुखता से उपयोग किया जाता है, वे निम्नानुसार है–

❒ शक्तिवर्धक के रूप में

विभिन्न शक्तिवर्धक दवाइयों के निर्माण में सतावर का उपयोग किया जाता है। यह न केवल सामान्य कमजोरी, बल्कि शुक्रवर्धन तथा यौनशक्ति बढ़ाने से संबंधित बनाई जाने वाली कई दवाईयों जिसमें यूनानी पद्धति से

बनाई जाने वाली माजून जंजीबेल, माजून शीर बरगदवली तथा माजून पाक आदि प्रसिद्ध हैं, में भी प्रयुक्त किया है। न केवल पुरुषों बल्कि महिलाओं के विभिन्न योनिदोषों के निवारण के साथ–साथ यह महिलाओं के बांझपन के इलाज हेतु भी प्रयुक्त किया जाता हैं इस संदर्भ में यूनानी पद्धति से बनाया जाने वाला हलवा–ए–सुपारी पाक अपनी विशेष पहचान रखता है।

❒ दुग्ध बढ़ाने हेतु

माताओं का दुग्ध बढ़ाने में भी सतावर काफी प्रभावी सिद्ध हुआ है तथा वर्तमान में इससे संबंधित कई दवाइयां बनाई जा रही हैं। न केवल महिलाओं बल्कि पशुओं–भैसों तथा गायों में दूध बढ़ाने में भी सतावर काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ञ चर्मरोगों के उपचार हेतु

विभिन्न चर्म रोगों जैसे त्वचा का सूखापन, कुष्ठ रोग आदि में भी इसका बखूबी उपयोग किया जाता है।

ञ शारीरिक दर्दों के उपचार हेतु

आंतरिक हैमरेज, गठिया, पेट के दर्दों, पेशाब एवं मूत्र संस्थान से संबंधित रोगों, गर्दन के अकड़ जाने (स्टिफनेस), पाक्षाघात, अर्धपाक्षाघात, पैरों के तलवों में जलन, साइटिका, हाथों तथा घुटने आदि के दर्द तथा सरदर्द आदि के निवारण हेतु बनाई जाने वाली विभिन्न औषधियों में भी इसे उपयोग में लाया जाता है।

सतावर के पौध की नर्सरी

उपरोक्त के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के बुखारों (मलेरिया, टायफाइड, पीलिया) तथा स्नायु तंत्र (Nervous System) से संबंधित विकारों के उपचार हेतु भी इसका उपयोग किया जाता है। ल्यूकोरिया के उपचार हेतु इसकी जड़ों को गाय के दूध के साथ उबाल करके देने पर लाभ होता है।

सतावर काफी अधिक औषधीय उपयोग का पौधा है। यूं तो अभी

तक इसकी बहुतायत में उपलब्धता जंगलों से ही है परन्तु इसकी उपयोगिता तथा मांग को देखते हुए इसके कृषिकरण की आवश्यकता महसूस होने लगी है तथा कई क्षेत्रों में बड़े स्तर पर इसकी खेती प्रारंभ हो चुकी है जो न केवल कृषिकरण की दृष्टि से बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी काफी लाभकारी सिद्ध हो रही है।

सतावर की फसल

4.2.5 सतावर की कृषि तकनीक

सतावर की कृषि तकनीक के प्रमुख पहलू निम्नानुसार हैं–

उपयुक्त जलवायु

सतावर के लिए गर्म एवं आर्द्र जलवायु ज्यादा उत्तम मानी जाती हैं प्रायः जिन क्षेत्रों का तापमान 10^0 से 50^0 सेल्सियस के बीच हो, वे इसकी खेती के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। इस प्रकार ज्यादा ठंडे प्रदेशों को छोड़कर सम्पूर्ण भारतवर्ष की जलवायु इसकी खेती के लिए उपयुक्त हैं विशेष रूप से मध्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों में यह काफी अच्छी प्रकार पनपता हैं। मध्यभारत के साल वनों तथा मिश्रित वनों मे एवं राजस्थान के रेतीले इलाकों में प्राकृतिक रूप से इसकी काफी अच्छी बढ़त देखी जाती है।

उपयुक्त मिट्टी

सतावर का मुख्य उपयोगी भाग इसकी जड़ें होती हैं जो प्रायः 6से 9 इंच तक भूमि में जाती हैं। राजस्थान की रेतीली जमीनों में तो कई बार ये डेढ़–डेढ़ फीट तक लंबी भी देखी गई हैं। खैर! क्योंकि इसकी कंदिल जड़ों के विकास के लिए पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए अतः इसके लिए आवश्यक है कि जिस क्षेत्र में इसकी बिजाई की जाए वहां की मिट्टी नर्म अर्थात पोली हो। इस दृष्टि से रेतीली दोमट मिट्टी जिसमें जलनिकास की पर्याप्त व्यवस्था हो, इसकी खेती के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं यूं तो हल्की कपासिया तथा चिकनी मिट्टी में भी इसे उपजाया जा सकता है। परन्तु

ऐसी मिट्टी में रेत आदि का मिश्रण करके इसे इस प्रकार तैयार करना होगा कि यह मिट्टी कंदो को बलपूर्वक बांधे नहीं, ताकि उखाड़ने पर कंद क्षतिग्रस्त न हों।

4.2.6 बिजाई की विधि

सतावर की बिजाई बीजों से भी की जा सकती है तथा पुराने पौधों से प्राप्त होने वाली डिस्क से भी। प्रायः पुराने पौधों की खुदाई करते समय भूमिगत कंदों के साथ–सथ छोटे–छोटे अंकुर भी प्राप्त होते हैं। जिनसे पुनः पौध तैयार की जा सकती हैं इन अंकुरों को मूल पौधों से अलग करके पॉलीथीन बैग्स में लगा दिया जाता है। तथा 25–30 दिन में पौलीथिन में लगाए गए इन सीडलिंग्स को मुख्य खेत में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। वैसे बहुधा बिजाई इसके बीजों से ही की जाती है जिसके लिए इनकी निम्नानुसार नर्सरी बनाई जाना उपयुक्त रहता है–

4.2.7 नर्सरी अथवा पौधशाला बनाने की विधि

सतावर की व्यवसायिक खेती करने के लिए सर्वप्रथम इसके बीजों से इसकी पौधशाला अथवा नर्सरी तैयार की जाती हैं यदि एक एकड़ के क्षेत्र में खेती करना हो तो लगभग 100 वर्ग फीट की एक पौधशाला बनाई जाती है जिसे खाद आदि डालकर अच्छी प्रकार तैयार कर लिया जाता है। इस पौधाशाला की ऊंचाई सामान्य खेत से लगभग 9 इंच से एक फीट ऊंची होनी चाहिए ताकि बाद में पौधों को उखाड़ कर आसानी से स्थानांतरित किया जा सके। 15 मई के करीब इस पौधशाला में सतावर के (5 कि.ग्रा. बीज एक एकड़ हेतु) बीज छिड़क दिए जाने चाहिए। बीज छिड़कने के उपरान्त इन पर गोबर मिश्रित मिट्टी की हल्की परत चढ़ा दी जाती है। ताकि बीज ठीक से ढंक जाएं।

सतावर की लताओं पर तैयार हो रहे बीज

तदुपरांत पौधशाला की फब्बारे अथवा स्प्रिंकलर्स से हल्की सिंचाई कर दी जाती हैं प्रायः 10 से 15 दिनों में इन बीजों में अंकुरण प्रारंभ हो जाता है। तथा बीजों से अंकुरण का प्रतिशत लगभग 40 प्रतिशत तक रहता हैं जब ये पौधे लगभग 40–45 दिनों के हो जाए तो इन्हें मुख्य खेत में प्रतिरोपित कर दिया जाना चाहिए। नर्सरी अथवा पौधशाला में बीज बोने की जगह इन बीजों को पौलीथीन की थैलियों में डाल करके भी तैयार किया जा सकता है।

सतावर का जड़

4.2.8 खेत की तैयारी

सतावर की खेती 24 माह से 40 माह की फसल के रूप में की जाती है इसलिए यह आवश्यक होता है कि प्रारंभ में खेत की अच्छी प्रकार से तैयारी की जाए। इसके लिए माह मई–जून में खेत की गहरी जुताई करके उसमें 2 टन केंचुआ खाद अथवा चार टन कम्पोस्ट खाद के साथ–साथ 15 कि.ग्रा. बायोनीमा जैविक खाद प्रति एकड़ की दर से खेत में मिला दी जानी चाहिए। यूं तो सतावर सीधे प्लेन खेत में भी जा सकती है परन्तु जड़ों के अच्छे विकास के लिए यह वांछित होता है कि खेत की जुताई करने तथा खाद मिला देने से उपरान्त खेत में मेड़ें बना दी जाए। इसके लिए 60–60 सें.मी. की दूरी पर 9 इंच ऊँची मेड़ियां बना दी जाती हैं।

4.2.9 मुख्य खेत में पौधों की रोपाई

जब नर्सरी में पौध 40–45 दिन की हो जाती है तथा यह 4–5 इंच की ऊँचाई प्राप्त कर लेती है तो इसे इन मेड़ियों पर 60–60 सें.मी. की दूरी पर चार–पांच इंच गहरे गड्ढे खोदकर के रोपित कर दिया जाता है। खेत में खाद मिलाने का काम खेत की तैयारी के समय भी किया जा सकता है तथा गड्ढों में पौध की रोपाई के समय भी। पहले वर्ष के उपरान्त आगामी

वर्षों में भी प्रतिवर्ष माह जून–जुलाई में 750 कि.ग्रा. केंचुआ खाद अथवा 1.5 टन कम्पोस्ट खाद तथा 15 कि. ग्रा. बायोनीमा जैविक खाद प्रति एकड़ डालना उपयोगी रहता है।

सतावर की सूखी जड़

4.2.10 आरोहरण की व्यवस्था

सतावर एक लता है अतः इसके सही विकास के लिए आवश्यक है कि इसके लिए उपयुक्त आरोहरण की व्यवस्था की जाए। इस कार्य हेतु तो मचान जैसी व्यवस्था भी की जा सकती है परन्तु यह ज्यादा उपयुक्त रहता है यदि प्रत्येक पौधे के पास लकड़ी के सूखे डंठल अथवा बांस के डंडे गाड़ दिए जाऐं ताकि सतावर की लताऐं उन पर चढ़कर सही विस्तार पा सकें।

4.2.11 खरपतवार नियंत्रण तथा निराई–गुड़ाई की व्यवस्था

सतावर के पौधों को खरपतवार से मुक्त रखना आवश्यक होता है इसके लिए यह उपयुक्त होता है कि आवश्यकता पड़ने पर नियमित अंतरालों पर हाथ से निराई–गुड़ाई की जाए। इससे एक तरफ जहां खरपतवार पर नियंत्रण होता है वहीं हाथ से निराई–गुड़ाई करने से मिट्टी भी नर्म रहती है जिससे पौधों की जड़ों के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण भी प्राप्त होता है।

4.2.12 सिंचाई की व्यवस्था

सतावर के पौधों को ज्यादा सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। यदि माह में एक बार सिंचाई की व्यवस्था हो सके तो ट्यूबर्स (जड़ों का अच्छा विकास हो जाता है। सिंचाई फ्लड पद्धति से भी की जा सकती है तथा इसके लिए ड्रिप इरीगेशन पद्धति का भी उपयोग किया जा सकता है जिसमें अपेक्षाकृत कम पानी की आवश्यकता होगी। सिंचाई देते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पानी पौधों के पास ज्यादा देर तक रुके नहीं। वैसे कम पानी

अथवा बिना सिंचाई के अर्थात् असिंचित फसल के रूप में भी सतावर की खेती की जा सकती है। हां! ऐसी स्थिति में उत्पादन का प्रभावित होना स्वाभाविक है।

4.2.13 फसल का पकना अथवा फसल की परिपक्वता

प्रायः लगाने के 24 माह के उपरान्त सतावर की जड़ें खोदने के योग्य हो जाती है। किन्हीं किसानों द्वारा इनकी 40 माह बाद भी खुदाई की जाती है।

4.2.14 जड़ों की खुदाई तथा उपज की प्राप्ति

24 से 40 माह की फसल हो जाने पर सतावर की जड़ों की खुदाई कर ली जाती है। खुदाई का उपयुक्त समय अप्रैल–मई माह का होता है जब पौधों पर लगे हुए बीज पक जाएं। ऐसी स्थिति में कुदाली की सहायता से सावधानीपूर्वक जड़ों को खोद लिया जाता है। खुदाई से पहले यदि खेत में हल्की सिंचाई देकर मिट्टी को थोड़ा नर्म बना लिया जाए तो फसल को उखाड़ना आसान हो जाता है।

जड़ों को उखाड़ने के उपरान्त उनके ऊपर का छिलका उतार लिया जाता है। ऐसा चीरा लगाकर करके भी किया जाता है। सतावर की जड़ों के ऊपर पाया जाने वाला छिलका जहरीला होता है अतः इसे ट्यूबर्स से अलग करना आवश्यक होता है। छिलका उतारने का कार्य ट्यूबर्स उखाड़ने के तत्काल बाद कर लिया जाना चाहिए अन्यथा यदि ट्यूबर्स थोड़ी सूख जाऐं तो छिलका उतारना मुश्किल हो जाता है। ऐसी स्थिति में इन्हें पानी में हल्का उबालना पड़ता है तथा तदुपरान्त ठंडे पानी में थोड़ी देर रखने के उपरान्त ही इन्हें छीलना संभव हो पाता है। छीलने के उपरान्त इन्हें छाया में सुखा लिया जाता है। तथा पूर्णतया सूख जाने के उपरान्त वायुरुद्ध बोरियों में पैक करके बिक्री हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है।

4.2.15 कुल उत्पादन

प्रायः 24 माह की सतावर की फसल से प्रति एकड़ लगभग 25000 किग्रा. (10 प्रतिशत) रह जाती है। इस प्रकार एक एकड़ की खेती से लगभग 25 क्विंटल सूखी जड़ों का उत्पादन प्राप्त होता है।

4.2.16 फसल से प्राप्तियां, व्यय तथा लाभ

यद्यपि सतावर की सूखी जड़ों की बिक्री प्रायः 15 रु. से 25 रु. प्रति

कि.ग्रा. की गुणवतत्ता पर निर्भर करती हैं जो कि प्रायः 15 रु. से 25 रु. प्रति कि.ग्रा. तक रहती है, परन्तु यदि इसका औसतन बिक्री दर 20 रू. प्रति कि. ग्रा. माना जाए तो इस फसल से लगभग 50000 रू. की प्राप्तियां होंगी। इनमेंसे लगभग 16,000 रू. का व्यय होना अनुमानित हैं इस प्रकार इस फसल से प्रति एकड़ लगभग 34 हजार रु. का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। निःसन्देह सतावर एक अत्यधिक महत्वपूर्ण औषधीय महत्व का पौधा है जिसके उपयोगों को देखते हुए इसकी मांग के निरन्तर बढ़ते जाने की संभावना हैं कम उपजाऊ जमीनों तथा कम पानी की उपलब्धता में भी उपजाए जा सकने जैसी इसकी विशेषताओं के कारण व्यवसायिक स्तर पर इसकी खेती काफी उपयोगी है। किन्हीं अन्य पौधों के साथ इसे इंटरक्रापिंग में तथा कई अन्य पौधे इसके बीज से उगाए जा सकने के कारण इसकी खेती आर्थिक रूप में भी काफी अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकती है।

सतावर की खेती से संबंधित व्यय एवं प्राप्तियां

(क) व्यय			
1	खेत की तैयारी पर व्यय	=	1000/–
2	बीज की लागत	=	2000/–
3	खाद आदि की लागत	=	2500/–
4	पौधशाला तैयार करने पर व्यय	=	500/–
5	मेड़ियां बनाने तथा पौधों की ट्रांसप्लांटिंग पर व्यय	=	1000/–
6	खरपतवार नियंत्रण पर व्यय	=	1000/–
7	सिंचाई व्यवस्था पर व्यय	=	3000/–
8	आरोहरण व्यवस्था पर व्यय	=	1000/–
9	दूसरे तथा तीसरे साल में फसल सुरक्षा पर व्यय	=	1500/–
10	कंदों की खुदाई तथा छिलाई आदि पर व्यय	=	1500/–
11	कंदों सुखाने तथा पैकिंग आदि पर व्यय	=	1000/–
	कुल व्यय	**=**	**16000/–**
(ख) कुल प्राप्तियाँ			
(क्विंटल सूखे ट्यूबर्स 2000 रु. प्रति क्विं. की दर से)		=	50000/–
(ग) शुद्ध लाभ = रु. 50000 – 16000 रु.		**=**	**34,000 रु.**

❖❖❖

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. सतावर की खेती के लिए किस प्रकार की भूमि उपयुक्त रहती है ?
2. सतावर की नर्सरी हेतु कितने बीज की आवश्यकता पड़ती है ?
3. सतावर के पौधे का मुख्य औषधीय उपयोगी भाग कौन सा होता है ?
4. सतावर की फसल कितने माह में खोदने योग्य हो जाती है ?
5. प्रति एकड़ सतावर की पैदावार कितनी होती है ?

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

1. सतावर का वनस्पतिक नाम एवं इसके औषधीय उपयोग का वर्णन करें।
2. सतावर की कृषि तकनीकी का वर्णन करें।
3. सतावर की आर्थिकी पर प्रकाश डालें।

❖❖